OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H200 V85D Accession No. H10

Author विवेकानन्द, स्वामी

Title धर्मरहस्य - 1953.

This book should be returned on or before the date last marked

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186638

UNIVERSAL
LIBRARY

# धर्मरहस्य

स्वामी विवेकानन्द

( द्वितीय संस्करण )

श्रीरामकृष्ण आश्रम

नागपुर, मध्यप्रदेश

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर–१, म. प्र.

Checked 1969

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प २५ वाँ

( श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित )

Collection

मूल्य १ रु.

मुद्रक—
श्री. वि. गं. ओ,
एम् ए.
प्रदीप मुद्रणालय, धन्ो ी, नागपूर

# वक्तव्य

'धर्मरहस्य' का यह नवीन द्वितीय संस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक स्वामी विवेकानन्द के धर्म सम्बन्धी प्रसिद्ध व्याख्यानों का संग्रह है। इनमें धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप के महत्व को अत्यन्त विशद रीति से पुरस्सर किया गया है तथा समस्त धर्मों के अन्तिम ध्येय—आत्मदर्शनलाभ के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वामीजी ने धर्म के व्यावहारिक पक्ष की चर्चा करते हुए यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि धर्म द्वारा समाज में नवजीवन का किस प्रकार संचार हो सकता है। उन्होंने बड़े प्रबल तर्कों द्वारा यह आग्रह किया है कि वर्तमान युग में उसी की धर्म आवश्यकता है जो 'मनुष्य' का निर्माण कर सके।

हमें विश्वास है कि इस प्रकाशन से धर्मप्रेमी सज्जनों का कई दृष्टिकोणों से विशेष हित होगा।

आगरा,
दि. १-६-१९५१

प्रकाशक

# अनुक्रमणिका


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| १. धर्म क्या चीज़ है ? | १ |
| २. सार्वभौमिक धर्म का आदर्श | २१ |
| ३. सार्वभौमिक धर्मलाभ का उपाय | ६५ |

स्वामी विवेकानन्द

# धर्मरहस्य

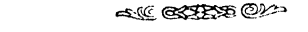

## १ धर्म क्या चीज़ है।

रेलवे लाइन के ऊपर से एक बड़ी रेलगाड़ी ज़ोर से जा रही थी। एक क्षुद्र कीट लाइन के ऊपर से जा रहा था। गाड़ी आ रही है, यह देखकर धीरे धीरे लाइन से उतरकर उसने अपने प्राण बचाये। यद्यपि वह क्षुद्र कीट इतना नगण्य है कि रेलगाड़ी से दबकर जिस किसी भी क्षण उसकी मृत्यु की सम्भावना है—तथापि वह एक जीवित पदार्थ है, और रेलगाड़ी इतनी बृहत्, इतनी प्रकाण्ड होने पर भी केवल एक यंत्र है, एक जड़ एंजिन ही है। आप कहेंगे, एक में जीवन है और दूसरा केवल जड़ पदार्थ है—उसकी चाहे जितनी शक्ति हो, उसकी गति और वेग चाहे जितना प्रबल हो, वह मृत जड़ यंत्र के सिवाय और कुछ भी नहीं है। और वह क्षुद्र कीट जो लाइन के ऊपर चल रहा था, एंजिन के स्पर्शमात्र से जिसकी मृत्यु निश्चित थी, वह उस

प्रकाण्ड रेलगाड़ी की तुलना में श्रेष्ठ और महिमामम्पन्न है। वह उस अनन्त स्वरूप का ही केवल एक क्षुद्र अंश है, इसी कारण वह उस शक्तिशाली एंजिन से श्रेष्ठ है। उसका यह श्रेष्ठत्व क्यों हुआ? जीवित, प्राणसम्पन्न वस्तु से मृत जड़ पदार्थ का पार्थक्य हम कैसे समझते हैं? यंत्र-निर्माता ने उसे जिस प्रकार परिचालित करने की इच्छा से निर्माण किया था, वह यंत्र केवल उतना ही कार्य करता है, उसके सब कार्य जीवित प्राणी की भाँति नहीं हैं। तो फिर जीवित और मृत का भेद किस प्रकार किया जाय? जीवित प्राणी के भीतर स्वाधीनता है, ज्ञान है, और मृत जड़ पदार्थ में स्वाधीनता नहीं है; कारण, उसको ज्ञान नहीं है, वह कुछ जड़ नियमों की सीमा में बद्ध है। यह जो स्वाधीनता है—जिसके रहने पर ही केवल यंत्र से हमारा विशेषत्व है—उस स्वाधीनता को पूर्ण भाव से पाने के लिए ही हम सब चेष्टाएँ कर रहे है। हमारी जितने प्रकार की चेष्टाएँ हैं—उन सबका यही उद्देश्य है कि कैसे हम अधिकतर स्वाधीन हों। कारण, पूर्ण स्वाधीनता पाने पर ही हम पूर्णत्व पा सकते हैं। हम जानें, चाहे न जानें, स्वाधीनता पाने की यह चेष्टा ही सब प्रकार की उपासना-प्रणाली की भित्ति है।

संसार में जितने प्रकार की उपासना-प्रणालियाँ प्रचलित हैं, उन सबका यदि हम विश्लेषण करें, तो हमें मालूम होगा कि बड़ी असभ्य जातियाँ भूत-प्रेतादियों की उपासना करती हैं। पूर्व-

पुरुषों की आत्मा की उपासना, सर्प-पूजा, जातीय देव-विशेष की उपासना—इन सबको लोग क्यों करते हैं? कारण यह है कि जैसे भी हो, लोग यह समझते हैं कि उक्त देवादि पुरुषगण हमारी अपेक्षा अधिक बड़े हैं, बहुत शक्तिशाली हैं और वे हमारी स्वाधीनता में बाधा डालते हैं। इसी कारण इन सब पुरुषों को वे सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं, जिससे वे उनका किसी प्रकार अनिष्ट न कर सकें, अर्थात् जिससे वे अधिकतर स्वाधीनता लाभ कर सकें। इन सब श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा कर उनको सन्तुष्ट करके वरस्वरूप उनसे नाना प्रकार की काम्य वस्तुओं की वे आकांक्षा करते हैं। जिन सबको अपने प्रयत्न से लाभ करना मनुष्य को उचित है, वे उन्हें देवता के अनुग्रह से पाना चाहते हैं।

जो कुछ भी हो, मतलब यह है कि इन सब उपासना-प्रणालियों की आलोचना से यही उपलब्धि होती है कि समग्र संसार कुछ एक अद्भुत बात की आशा कर रहा है। यह आशा सदा के लिए कभी भी हमें नहीं छोड़ती और हम चाहे जितनी ही चेष्टाएँ क्यों न करें, हम सब केवल अद्भुत और आश्चर्य-जनक की ही तरफ दौड़ रहे हैं। जीवन के अर्थ और उसके रहस्य के अविराम अनुसन्धान को छोड़ हमारे मन का और क्या अर्थ होता है? हम कहेंगे कि अशिक्षित लोग ही इस आश्चर्यजनक के अनुसन्धान में व्यस्त हैं, परन्तु वे भी क्यों उसका अनुसन्धान करेंगे, इस प्रश्न से तो सहज ही हम छुटकारा नहीं पा सकते।

बाइबिल में देखा जाता है कि समग्र यहूदी संसार ईसा मसीह के निकट निदर्शनस्वरूप एक अलौकिक घटना देखने की आकांक्षा प्रकाश करता था। केवल यहूदी ही क्यों, समग्र जगत् ही हजारों वर्षों से लेकर इस प्रकार अलौकिक घटना देखने की प्रत्याशा करता आ रहा है और देखिये, समग्र जगत् में सबके भीतर ही एक असन्तोष का भाव दिखाई पड़ता है। हमने एक आदर्श को पकड़ा, जीवन का एक लक्ष्य स्थिर किया—परन्तु उसकी ओर अग्रसर होकर आधे रास्ते में पहुँचते ही एक नया आदर्श पकड़ लिया। एक निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर जाने के लिए हमने कठोर चेष्टाएँ कीं, परन्तु उसके बाद समझ गये कि उसमें हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। समय समय पर हममें ऐसे असन्तोष का भाव आ रहा है, किन्तु यदि इस असन्तोष की शान्ति न हो, तो हमारी इन मानसिक चेष्टाओं का परिणाम क्या होगा? इस सार्वजनीन असन्तोष का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि स्वाधीनता-लाभ ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है—जब तक वह इस स्वाधीनता का लाभ नहीं करता, तब तक किसी तरह भी उसका असन्तोष दूर नहीं हो सकता। मनुष्य सर्वदा ही स्वाधानती का अनुसन्धान कर रहा है, मनुष्य का समग्र जीवन ही केवल इस स्वाधीनता-लाभ की चेष्टा है। बच्चा जन्म ग्रहण करते ही नियम के विरुद्ध विद्रोही हो जाता है। वह जन्मते ही रोने लगता है। इसका अर्थ और कुछ भी नहीं है—वह जन्मते

ही देखता है कि वह विविध अवस्था-चक्र में बद्ध है—इसलिए मानो वह रोकर उक्त अवस्था का प्रतिवाद करते हुए, अपने अन्तर्निहित मुक्ति की आकांक्षा को अभिव्यक्त करता है। मनुष्य की इस स्वाधीनता और मुक्ति की आकांक्षा से ही उसकी यह धारणा उत्पन्न होती है कि ऐसा एक पुरुष अवश्य है जो सम्पूर्णतः मुक्तस्वभाव है। इसलिए देखा जाता है कि ईश्वर की धारणा मानवों के मन का स्वाभाविक गुण है।

वेदान्त में, मानव-मन की सर्वोच्च ईश्वर-धारणा सच्चिदानन्द नाम से निर्दिष्ट की गई है। वह चिद्घन और स्वभावतः आनन्द-घनस्वरूप है। हम बहुत दिनों से ही उस सच्चिदानन्द-स्वरूप की आभ्यन्तरीण वाणी को दबा रखने की चेष्टा करते आये हैं। हम नियम का अनुसरण करने की चेष्टा करके अपने स्वाभाविक मनुष्य-प्रकृति की स्फूर्ति में बाधा देने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु हमारा आभ्यन्तरीण मानव-स्वभाव-सुलभ सहज संस्कार, प्रकृति की नियमावली के विरुद्ध हमको विद्रोह करने के लिए प्रवृत्त कर रहा है। हम इसका अर्थ चाहे न समझें, परन्तु अज्ञात भाव से हमारे मानुषिक भाव के साथ आध्यात्मिक भाव का, निम्नस्तर के मन के साथ उच्चतर मन का, संग्राम चल रहा है, और इस प्रतिद्वन्द्विता के संघर्ष से अपना एक पृथक् अस्तित्व बचा रखने की—जिसको हम अपनापन या व्यक्तित्व कहते हैं, उसको बचा रखने की—एक विशेष चेष्टा देखी जाती है।

यहाँ तक कि नरक के अस्तित्व की भी जिन मनुष्यों ने कल्पना की है, उनमें यह अद्भुत बात पाई जाती है कि हम जन्म से ही प्रकृति का विरुद्धाचरण करते रहते हैं—हमको जन्मते ही किन्हीं नियमों में बाँधने की चेष्टा की जाती है—हम उसका विरोध करके कहने लगते हैं, किसी प्रकार के नियम से हम नहीं चलेंगे। जब हम पैदा होते हैं, जीवन-प्रवाह के प्रथम आविर्भाव में ही हमारे जीवन की प्रथम घटना प्रकृति का विरुद्धाचरण है। जितने दिन हम प्रकृति की नियमावली को मानकर चलते हैं, उतने दिन हम यंत्र की तरह हैं—उतने दिन जगत्-प्रवाह अपनी गति से चलता रहता है—उसकी शृंखला हम तोड़ नहीं सकते। नियम का पालन ही मनुष्य की प्रकृति हो जाती है। परन्तु जब हमारे भीतर प्रकृति का यह बन्धन तोड़कर मुक्त होने की चेष्टा उत्पन्न होती है, तभी उच्च स्तर के जीवन का प्रथम उन्मेष हुआ, ऐसा समझना होगा। मुक्ति—स्वाधीनता—आत्मा के अन्तस्तल से सर्वदा ही यह संगीत-ध्वनि उठ रही है, किन्तु हाय! अनन्त नित्य-चक्र में वह घूम रही है—प्रकृति की सैकड़ों शृंखलाओं में वह बद्ध हो रही है।

यह जो नागपूजा है—भूतप्रेत की उपासना तथा विभिन्न धर्म-मतों और साधनाओं की सहायता से अतिप्राकृतिक शक्ति-लाभ की जो चेष्टा देखी है, इन सबका अर्थ क्या है? किसी वस्तु में जीवन-शक्ति है, उसके भीतर एक यथार्थ सत्ता

है, यह बात हम क्यों कहते हैं? अवश्य इन सब अनुसन्धानों के भीतर, जीवनी-शक्ति को समझने की, यथार्थ सत्ता की व्याख्या करने की चेष्टा के भीतर, कोई अर्थ है। वह कभी निरर्थक या व्यर्थ नहीं हो सकती। वे सब मानव के केवल मुक्ति-लाभ की—पूर्ण स्वाधीनता पाने की निरन्तर चेष्टा का ही फल है। हम जिस विद्या को विज्ञान-शास्त्र कहते हैं, वह हजारों वर्षों से स्वाधीनता-लाभ की चेष्टा करता आ रहा है, और सब लोग सदैव इस स्वाधीनता की आकांक्षा कर रहे हैं; परन्तु प्रकृति के भीतर तो स्वाधीनता या मुक्ति नहीं है। उसके भीतर नियम—केवल नियम है, तथापि मुक्ति की यह चेष्टा चल रही है। विशाल सूर्य-मण्डल से लेकर क्षुद्र परमाणु तक सभी प्रकृति के नियमाधीन हैं—यहाँ तक कि मनुष्य को भी स्वाधीनता नहीं है। परन्तु हम इस बात पर विश्वास नहीं कर सकते, हम अनादि काल से ही प्राकृतिक नियमावली की आलोचना करते आ रहे हैं, परन्तु मनुष्य भी नियम के आधीन है—इस बात पर हम विश्वास नहीं कर सकते, विश्वास करना नहीं चाहते—कारण, हमारी आत्मा के अन्तस्तल से निरन्तर 'मुक्ति! मुक्ति! स्वाधीनता! स्वाधीनता!' यही अनन्त संगीत-ध्वनि उठ रही है। मनुष्य ने जब नित्यमुक्त पुरुष-स्वरूप ईश्वर की धारणा लाभ की है तब वह अनन्तकाल तक के लिए बन्धन के भीतर रहकर शान्ति नहीं पा सकता। मनुष्य को उच्च से उच्चतर पथ पर अग्रसर होना होगा, और उसकी यह चेष्टा यदि

अपने लिए न होती, तो इसे वह बड़ा कष्टदायक समझता। मनुष्य अपनी ओर देखकर कहा करता है, "मै जन्म के साथ ही प्रकृति का क्रीत-दास हूँ—बद्ध हूँ, तब भी एक ऐसे पुरुष है, जो प्रकृति के नियम में बद्ध नहीं है—जो नित्यमुक्त और प्रकृति के भी प्रभु है।" इसलिए, बन्धन की धारणा, जिस प्रकार हमारे मन का अछेद्य अश-स्वरूप है, ईश्वर की धारणा भी उसी प्रकार प्रकृतिगत और हमारे मन का अछेद्य अंश-स्वरूप है। दोनों ही इस स्वाधीनता के भाव से उत्पन्न हुई है। और तो क्या, स्वाधीनता का भाव न रहने पर उद्भिज के भीतर भी जीवनी-शक्ति नहीं रह सकती। उद्भिज अथवा कीट के भीतर वह जीवनी-शक्ति विकसित होकर व्यक्तिगत भाव से प्रकाशित होने की चेष्टा कर रही है। अज्ञातभाव से मुक्ति की चेष्टा उनके भीतर कार्य कर रही है—उद्भिज जीवन धारण कर रहा है, उसका उद्देश है अपने विशेषत्व, अपने विशेष रूप, अपने निजत्व की रक्षा करना—उस मुक्ति की अविराम चेष्टा ही उसकी उस चेष्टा का प्रेरक है—प्रकृति नहीं। प्रकृति ही हमारी उन्नति के प्रत्येक सोपान को नियमित कर रही है, इस प्रकार की धारणा करने से स्वाधीनता या मुक्ति के भाव को बिलकुल उड़ा देना पड़ता है; परन्तु जिस प्रकार हमारे नियम मे बद्ध जड़-जगत् की धारणा चल रही है, उसी प्रकार मुक्ति की धारणा भी चल रही है। इन दो धारणाओ का लगातार संग्राम चल रहा है। हम अनेक मत-मतान्तर

तथा विभिन्न सम्प्रदायों के विवाद की बात सुन रहे हैं, परन्तु विभिन्न मत या विभिन्न सम्प्रदायों का होना अन्याय या अस्वाभाविक नहीं है—वे अवश्य रहेंगे। शृङ्खला जितनी दीर्घ हो रही है स्वभावतः उतना ही द्वन्द्व बढ़ रहा है; परन्तु यदि हम यह समझ लें कि हम सब उसी एक प्रकार के लक्ष्य की ओर पहुँचने की चेष्टा कर रहे हैं तो विवाद का प्रयोजन फिर नहीं रहेगा।

मुक्ति या स्वाधीनता के इस मूर्त-विग्रह-स्वरूप प्रकृति के प्रभु को हम ईश्वर कहा करते हैं। आप उनको अस्वीकार नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि आप इस स्वाधीनता के भाव को कभी भगा नहीं सकते, इस भाव के बिना एक मुहूर्त भी जीवन धारण नहीं किया जा सकता। यदि आप अपने को स्वाधीन कहकर विश्वास नहीं करते तो आप क्या कभी यहाँ आ सकते थे? सम्भव है कि प्राणीतत्वविद् आकर इस मुक्त होने की निरन्तर चेष्टा पर एक व्याख्यान दे सकते हैं और देंगे भी। यह सब मैं मानता हूँ किन्तु फिर भी स्वाधीनता का भाव तो हमारे भीतर से नहीं जाता। जैसे हम प्रकृति के अधीन हैं, प्रकृति के बन्धन को किसी प्रकार काट नहीं सकते, ये भाव सदा हमारे भीतर वर्तमान हैं, वैसे ही स्वाधीनता का भाव भी हमारे भीतर सदा वर्तमान है।

बन्धन और मुक्ति, उजेला और छाया, अच्छा और बुरा—सर्वत्र ही ये दो बातें हैं। समझना होगा कि जहाँ भी किसी

प्रकार का बन्धन है, उसके पीछे मुक्ति भी गुप्त भाव से विद्यमान है। यदि एक सत्य हो तो दूसरा भी अवश्य सत्य होगा। सर्वत्र ही मुक्ति की धारणा अवश्य रहेगी। हम अशिक्षित व्यक्तियों में जिस प्रकार बन्धन की धारणा देखते है, उसको हम मुक्ति की धारणा कह कर अभी न समझें, तथापि वह धारणा उसके भीतर मौजूद है। अशिक्षित और जंगली मनुष्य के मन में पाप और अपवित्रता के बन्धन की धारणा बहुत कम है, कारण उसकी प्रकृति पशु-स्वभाव से अधिक उन्नत नहीं है। वह प्रकृति के बन्धन से, बाह्य-वस्तु-संभोग के अभाव मे अपने को मुक्त करने की चेष्टा करता रहता है; किन्तु इस निम्नतर धारणा से धीरे धीरे उसके मन मे मानसिक और नैतिक बन्धन की धारणा और आध्यात्मिक स्वाधीनता की आकांक्षा जाग उठती है। यहाँ हम देखते है कि वही ईश्वरीय भाव अज्ञानावरण के भीतर से क्षीण रूप मे प्रकाशित हो रहा है। पहले पहल वह आवरण बड़ा घना रहता है और मालूम होता है कि वह ब्रह्मज्योति एक तरह से उसमे आच्छादित है, परन्तु वास्तव में वही मुक्ति और पूर्णतास्वरूप उज्ज्वल अग्नि सदा स्तब्ध और अनाच्छादित भाव से ही वर्तमान रहती है। मनुष्य उसी मे व्यक्ति-धर्म का आरोप कर उसे ब्रह्माण्ड का नियन्ता एकमात्र मुक्त पुरुष कहकर उसकी धारणा करता है। वह तब भी नहीं जानता कि समग्र ब्रह्माण्ड एक अखण्ड वस्तु है—प्रभेद है केवल परिमाण के और धारणा के विचार मे।

समग्र प्रकृति ही ईश्वर की उपासना-स्वरूप है। जहाँ भी किसी प्रकार का जीवन है, वहीं मुक्ति का अनुसन्धान है और वह मुक्ति ही ईश्वरस्वरूप है। इस मुक्ति के लाभ करने पर निश्चय ही समग्र प्रकृति पर आधिपत्य प्राप्त होता है और ज्ञान के बिना मुक्ति पाना असम्भव है। हम जितने अधिकतर ज्ञानसम्पन्न होते हैं, उतना ही हम प्रकृति पर आधिपत्य पा सकते हैं। और प्रकृति जितनी ही हमारे वशीभूत होती जाती है उतना ही हम अधिकतर शक्तिसम्पन्न, अधिकतर ओजस्वी होते जाते हैं, और यदि ऐसे कोई पुरुष हों, जो सम्पूर्ण मुक्त और प्रकृति के प्रभु हैं, तो उनको अवश्य ही प्रकृति का पूर्ण ज्ञान रहेगा। वे सर्वव्यापी और सर्वज्ञ होंगे। मुक्ति और स्वाधीनता के साथ साथ ये अवश्य रहेंगे और जो व्यक्ति इनको जानेंगे, केवल वे ही प्रकृति के पार जाने में समर्थ होंगे।

वेदान्त में ईश्वरविषयक जो सब तत्व पढ़ने में आते हैं उनके मूल में पूर्ण मुक्ति एवं स्वाधीनता से उत्पन्न परमानन्द तथा नित्य शान्तिरूप धर्म की उच्चतम धारणा विद्यमान है। सम्पूर्ण मुक्तभाव से अवस्थान—कुछ भी उसको बद्ध नहीं कर सकता, वहाँ प्रकृति नहीं है, किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है, ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसमें किसी प्रकार का परिणाम उत्पादन कर सके। यह मुक्तभाव आपके भीतर है, मेरे भीतर है और यही एकमात्र यथार्थ स्वाधीनता है।

ईश्वर सदा ही अपने महिमामय अपरिणामी स्वरूप पर प्रतिष्ठित हैं। आप और हम उनके साथ एक होने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु इधर बन्धन की कारणीभूत प्रकृति, नित्य जीवन की छोटी छोटी बातें, धन, नाम, यश, मानव-प्रेम प्रभृति प्राकृतिक विषयों पर निर्भर हैं। परन्तु यह जो समग्र प्रकृति प्रकाश पा रही है, उसका प्रकाश किस पर निर्भर है? ईश्वर के प्रकाश से ही प्रकृति प्रकाश पाती है; सूर्य, चन्द्र, तारों के प्रकाश से नहीं।

जहाँ कुछ भी वस्तु प्रकाशित है, चाहे वह सूर्य के प्रकाश से हो अथवा हमारी अन्तरात्मा के प्रकाश से वह वे ही हैं। वे प्रकाश पा रहे हैं। इसी कारण से समुदय संसार प्रकाश पा रहा है।

हमने देखा कि ये ईश्वर स्वतःसिद्ध हैं, ये व्यक्ति नहीं हैं तो भी सर्वज्ञ, प्रकृति के ज्ञाता और प्रभु, सबके ईश्वर हैं। सब उपासनाओं के मूल में वे विद्यमान हैं, हम चाहे समझे या न समझे, उन्हीं की उपासना हो रही है। केवल यही नहीं मैं ज़रा और भी आगे बढ़ कर कहना चाहता हूँ और इस बात को सुनकर शायद सभी आश्चर्यचकित होंगे, किन्तु इसमें सन्देह नहीं और मैं कहता हूँ कि जिसको अशुभ कहा जाता है, वह भी उन्हीं की उपासना है। वह भी मुक्ति का ही एक कोना है। केवल वही नहीं आप शायद मेरी यह बात सुनकर डर जायँगे, किन्तु मैं कहता हूँ—जब आप कोई अन्याय-कार्य कर रहे हैं तो उस मुक्ति की अदम्य आकांक्षा ही प्रो-

चक शक्ति-रूप से उसके पीछे विद्यमान है। सम्भव है कि वह ग़लत रास्ते पर जा रही है, परन्तु वह विद्यमान है अवश्य—यह कहना पड़ेगा। और फिर उस मुक्ति की—स्वाधीनता की—प्रेरणा न रहने से किसी प्रकार के जीवन या किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं रह सकती।

समग्र ब्रह्माण्ड में मुक्ति—स्वाधीनता—का स्पन्दन हो रहा है। इस ब्रह्माण्ड के अन्तरतम प्रदेश में यदि एकत्व न रहता, तो हम बहुत्व की धारणा ही नहीं कर सकते थे। उपनिषद् में ईश्वर की धारणा इस प्रकार है। समय समय पर यह धारणा और भी उच्चतर स्तर में उठी है—उसने हमारे सामने एक ऐसे आदर्श की स्थापना की है—जिससे पहले पहल तो हमें स्तम्भित हो जाना पड़ता है—वह आदर्श यह है कि स्वरूपतः हम ईश्वर से अभिन्न हैं। वे ही तितली के विचित्र वर्ण हैं और वे ही प्रस्फुटित गुलाब की कली के रूप में आविर्भूत हुए हैं। जिन्होंने हमें जीवन दिया है, वे ही हमारे अन्तर में शक्तिरूप से विराज रहे हैं। उनके तेज से जीवन का आविर्भाव और उन्हीं की शक्ति से कठोरतम मृत्यु होती है। उनकी छाया ही मृत्यु है और उनकी छाया ही अमृतत्व है। एक और उच्चतर धारणा की बात कहता हूँ। भयानक जो कुछ भ[illegible] है, उससे हम सभी बहेलिये द्वारा खदेड़े हुए खरगोश की भाँति भाग रहे हैं, उसी की भाँति मुँह को छिपाकर अपने को निरापद सोचते हैं। ऐसे ही यह समग्र संसार, जो

कुछ भी भयानक देखता है, उसके पास से भागने की चेष्टा कर रहा है। एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था, उस जगह एक तरफ भारी जलाशय और दूसरी तरफ ऊँची दीवाल थी। उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे। काशी के बन्दर बड़े दुष्ट होते है। अब उनके मस्तिष्क में यह विकार पैदा हुआ कि वे मुझे उस रास्ते पर से न जाने दें। वे विकट चीत्कार करने लगे और झट आकर मेरे पैरों से जकड़ने लगे। उनको निकट देखकर मैं भागने लगा, किन्तु मैं जितना ज्यादा ज़ोर से दौड़ने लगा, वे उतनी ही अधिक तेजी से आकर मुझे काटने लगे। अन्त में उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत हुआ—ठीक ऐसे ही समय एक अपरिचित मनुष्य ने आकर मुझे आवाज दी, "बन्दरों का सामना करो"; मैं भी जैसे ही उलट कर उनके सामने खड़ा हुआ, वैसे ही वे पीछे हटकर भाग गये। समस्त जीवन में हमको यह शिक्षा लेनी होगी—जो कुछ भी भयानक है, उसका सामना करना पड़ेगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। जैसे बन्दरों के सामने से न भागकर उनका सामना करने पर वे भाग गये थे, उसी प्रकार हमारे जीवन में जो कुछ कष्टप्रद बातें है, उनका सामना करने ही पर वे भाग जाती है। यदि हम को मुक्ति या स्वाधीनता का अर्जन करना हो तो प्रकृति को जीतने पर ही हम उसे पायेंगे, प्रकृति से भागकर नहीं। कापुरुष कभी जय नहीं पा सकता। हमको भय, कष्ट

और अज्ञान के साथ संग्राम करना होगा, तभी वे हमारे सामने से भाग जायँगे।

मृत्यु क्या है? भय किसका है? उन सब के भीतर क्या भगवान् का प्रेमानन्द दिखाई नहीं देता? दुःख, कष्ट और भय से दूर भागकर देखिये— ये आपका पीछा कर रहे है। उनके सामने खड़े होइये, वे भाग जायँगे। सारा संसार सुख और आराम का उपासक है; जो कष्टप्रद है, उसकी उपासना करने का साहस बहुत कम लोग करते है। जो मुक्ति चाहता है, उसे इन दोनों का ही अतिक्रमण करना पड़ेगा। मनुष्य इस दुःखदायी द्वार के भीतर से गए बिना मुक्त नहीं हो सकता। हम सभों को ही इसका सामना करना पड़ेगा। हम ईश्वर की उपासना करने की चेष्टा करते है, किन्तु हमारी देह उनके और हमारे बीच मे पड़कर हमारी दृष्टि को अन्धी कर देती है। कठोर वज्र के भीतर, लज्जा, मलीनता, दुःख-दुर्विपाक, पाप-ताप के भीतर भी हमें उनसे प्रेम करने की शिक्षा लेनी होगी। समग्र संसार धर्ममय ईश्वर का प्रचार चिरकाल से करता आ रहा है। मै ऐसे ईश्वर का प्रचार करना चाहता हूँ, जो एकाधार से धर्ममय और अधर्ममय दोनों ही है; यदि साहस हो तो इस ईश्वर को ग्रहण करो—यही मुक्ति का एकमात्र उपाय है—इसके द्वारा ही आप उस एकत्वरूप चरम सत्य मे पहुँच सकेंगे। तभी यह धारणा नष्ट होगी कि एक व्यक्ति दूसरे से बड़ा है। जितना ही हम इस मुक्तितत्व के पास

जाते हैं, उतना ही हम ईश्वर के आश्रय में आते है, उतना ही हमारा दुःख-कष्ट दूर होता है। तब हम नरक के द्वार को स्वर्गद्वार से पृथक् नहीं समझेंगे, तब हम मनुष्य-मनुष्य में भेद-बुद्धि कर यह नहीं कहेंगे कि मैं जगत् के किसी प्राणी से श्रेष्ठ हूँ। जब तक हमारी ऐसी अवस्था नहीं होती कि हम संसार में उस प्रभु के सिवाय और किसी को न देखें, तब तक हम दुःख-कष्ट से घिरे ही रहेंगे, तब तक हम सब में भेद देखेंगे। कारण, हम उस भगवान् में—उसी आत्मा में अभिन्न है और जब तक हम ईश्वर को सर्वत्र नहीं देखेंगे, तक तक हम समग्र संसार के एकत्व का अनुभव नहीं कर सकेंगे।

एक ही वृक्ष पर सुन्दर पंखवाले दो पक्षी हैं—उनमें से एक वृक्ष के ऊपरवाले भाग पर और दूसरा नीचेवाले भाग पर बैठा है। नीचे का सुन्दर पक्षी वृक्ष के मीठे और कड़ुवे फलों को खाता है—एक बार मीठे फल को और उसके बाद ही कड़ुवे फल को खाता है। जिस मुहूर्त में उसने कड़ुवे फल को खाया उसको कष्ट हुआ, कुछ क्षण के बाद ही एक और फल खाया और जब वह भी कड़ुवा लगा, तब उसने ऊपर की ओर देखा। ऊपर उसको दूसरा पक्षी दिखाई दिया, वह मीठे या कड़ुवे किसी भी फल को नहीं खाता। वह अपनी महिमा में मग्न हो स्थिर और धीर भाव से बैठा है। किन्तु वह उसे देखकर भी फिर भूल से फल खाने लगा—अन्त में उसने एक ऐसा फल खाया

जो बड़ा ही कड़ुआ था, तब वह फल खाने से विरक्त हो फिर उस ऊपर वाले महिमामय पक्षी को देखने लगा। धीरे धीरे वह उस ऊपर वाले पक्षी की ओर अग्रसर होने लगा—जब वह उसके एकदम निकट पहुँचा—तब उस ऊपर वाले पक्षी की अंग-ज्योति उसके ऊपर पड़ी और धीरे धीरे ज्योति ने उसको वेष्टित कर लिया, अब तो उसने देखा कि वह उस ऊपर वाले पक्षी में परिणत हो गया है। तब से वह शान्त महिमामय और मुक्त हो गया है—उसको मालूम हुआ कि असल में वृक्ष पर दो पक्षी कभी थे ही नहीं—केवल एक ही पक्षी था। नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी की केवल छाया थी।

इसी प्रकार वास्तव में हम ईश्वर से अभिन्न हैं; परन्तु जिस प्रकार एक सूर्य लाखों शिशिर-बिन्दुओं पर प्रतिबिम्बित होकर छोटे छोटे लाखों सूर्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी बहु जीवात्मारूप से प्रतिभासित होते है। यदि हम अपने प्रकृत ब्रह्मस्वरूप के साथ अभिन्न होना चाहें, तो प्रतिबिम्ब को दूर करना आवश्यक है। विश्व-प्रपंच कदापि हमारे कार्यों की सीमा नहीं हो सकता। इसीलिए कृपण अर्थ-संचय करता रहता है, चोर चोरी करता है, पापी पापाचरण करता है, और आप दर्शन-शास्त्र की शिक्षा लेते हैं। इन सबका एक ही उद्देश्य है। मुक्तिलाभ को छोड़ हमारे जीवन का और कोई उद्देश्य नहीं है। ज्ञान से हो अथवा अज्ञान से, हम सब पूर्णता पाने की चेष्टा कर रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति उसे एक न एक दिन अवश्य ही पाएगा।

जो व्यक्ति पापों में मग्न है, जिस व्यक्ति ने नरक के पथ का अनुसरण कर लिया है, वह भी इस पूर्णता का लाभ करेगा, परन्तु उसको कुछ विलम्ब होगा। हम उसका उद्धार नहीं कर सकते। जब उस-पथ पर चलते चलते यह कुछ कठिन चोटें खायेगा, तब वे ही उसे भगवान की ओर प्रेरित करेंगी। अन्त में वह धर्म, पवित्रता, निःस्वार्थपरता और आध्यात्मिकता का पथ ढूँढ़ लेगा। और दूसरे लोग जिसका अनजान में अनुसरण कर रहे हैं, उसी धर्म का हम ज्ञानपूर्वक अनुसरण कर रहे है। सेण्ट पॉल ने एक स्थान पर इस भाव को खूब स्पष्ट भाव मे कहा है, "तुम जिस ईश्वर की अज्ञान में उपासना कर रहे हो, उन्हीं की मैं तुम्हारे निकट घोषणा कर रहा हूँ।" समग्र जगत् को यह शिक्षा ग्रहण करनी होगी। सब दर्शनशास्त्रों और प्रकृति के सम्बन्ध में इन सब मतवादों को लेकर क्या होगा, यदि वे जीवन के इस लक्ष्य पर पहुँचने में सहायता न कर सकें? आइये, हम विभिन्न वस्तुओं में भेद-ज्ञान को दूर कर सर्वत्र अभेद का दर्शन करें—मनुष्य अपने को सब वस्तुओं में देखना सीखे। हम अब ईश्वर सम्बन्धी संकीर्ण-धारणाविशिष्ट धर्ममत और सम्प्रदाय-समूह के उपासक न रहकर, संसार में सभी के भीतर उनका दर्शन करना आरम्भ करें। आप लोग यदि ब्रह्मज्ञ हों, तो आप अपने हृदय में जो देव-दर्शन कर रहे हैं, सर्वत्र ही, उन्हें देखने में आप समर्थ होंगे।

## धर्म क्या चीज़ है।

पहले तो सब संकीर्ण धारणाओं का त्याग कीजिये, प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का दर्शन कीजिये—देखिये, वे सब हाथों से काम कर रहे हैं, सब पैरों से चल रहे हैं, सब मुखों से भोजन कर रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति में वास कर रहे हैं, सब मनों के द्वारा वे मनन कर रहे हैं—वे स्वतःप्रमाण हैं—हमारे निज की अपेक्षा वे हमारे अधिक निकटवर्ती है। यही जानना धर्म है—यही विश्वास है, प्रभु हमको यह विश्वास दें। हम जब समस्त संसार में इस अखण्ड का अनुभव करेंगे, तब हम अमर हो जायँगे। भौतिक दृष्टि से देखने पर भी हम अमर हैं, सारे संसार के साथ एक हैं। जितने दिन तक एक व्यक्ति भी इस संसार में श्वास-प्रश्वास ले रहा है तब तक मैं उसके भीतर जीवित हूँ, मैं यह संकीर्ण क्षुद्र व्यष्टि जीव नहीं हूँ, मैं समष्टिस्वरूप हूँ। अतीत काल में जितने प्राणी हो गये हैं, मैं उन सभी का जीवनस्वरूप था; मैं ही बुद्ध, ईसा और मुहम्मद का आत्म-स्वरूप हूँ। मैं सब आचार्यगणों का आत्म-स्वरूप हूँ, मैं ही चौर्यवृत्तिकारी सकल चोर-स्वरूप हूँ और जितने हत्याकारी फाँसी पर लटके हैं, उनका भी स्वरूप—मैं सर्वमय हूँ। अतएव उठो—यही परा पूजा है। तुम स्वयं समग्र जगत् के साथ अभिन्न हो। यही यथार्थ विनय है—घुटने टेककर 'मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ' कहकर केवल चिल्लाने का नाम विनय नहीं है। जब इस भेद का आवरण छिन्न विच्छिन्न हो जाता है, तभी सर्वोच्च उन्नति समझनी होगी। समस्त जगत्

का अखण्डत्व—यही श्रेष्ठतम धर्ममत है। मै अमुक हूँ—व्यक्ति विशेष—यह तो बहुत ही संकीर्ण भाव है, यथार्थ सच्चे 'अहम्' के लिए यह सत्य नहीं है। मै समष्टिस्वरूप हूँ—इस धारणा के ऊपर खड़े होइये—इस पुरुषोत्तम की उच्चतम अनुष्ठान-प्रणालियो की सहायता से उपासना कीजिए, कारण ईश्वर जड़ वस्तु नहीं है, वे आत्मा और चैतन्य पदार्थ है, इसीलिए भाव की सहायता से उनकी यथार्थ उपासना करनी होगी। पहले साधक उपासना की निम्नतम प्रणाली का अवलम्बन कर, उपासना करते करते जड़ विषय की चिन्ता से उच्च सोपान पर आरोहण करके आध्यात्मिक उपासना के राज्य मे उपनीत होता है, तभी अन्त में उस अखण्ड, अनन्त समष्टिस्वरूप भगवान की सहायता से यथार्थ उपासना सम्भव होती है। जो कुछ सान्त है, वह जड़ है। चैतन्य ही केवल अनन्त स्वरूप है, ईश्वर चैतन्यस्वरूप है इसीलिए वे अनन्त है; मानव चैतन्यस्वरूप है—मानव भी अनन्त है और अनन्त ही केवल अनन्त की उपासना मे समर्थ है। हम उसी अनन्त की उपासना करेंगे, यही सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना है। इन सब भावों का अनुभव करना बहुत बड़ी बात है और बहुत कठिन है। मै मत-मतान्तर की बात कह रहा हूँ, दार्शनिक विचार कर रहा हूँ, कितनी बकबक कर रहा हूँ; इतने में कुछ मेरे प्रतिकूल घटना घटी—मै अज्ञान से क्रुद्ध हो उठा, तब भूल गया कि—इस विश्व-ब्रह्माण्ड मे यह क्षुद्र समीम मुझे छोड़

और भी कुछ है। मैं तब कहना भूल गया, "मैं चैतन्यस्वरूप हूँ—इस अकिंचित्कर बात से मेरा क्या प्रयोजन है—मै तो चैतन्यस्वरूप हूँ," मैं तब भूल जाता हूँ कि यह सब मेरी ही लीला है, मैं ईश्वर को भूल जाता हूँ और मुक्ति की बात भी भूल जाता हूँ।

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

पण्डितों ने बार बार कहा है—मुक्ति का पथ अस्तुरे की भाँति तीक्ष्ण, दीर्घ और कठिन है—इसे अतिक्रमण करना कठिन है। किन्तु पथ कठिन हो, सैकड़ो दुर्बलतायें आएं, सैकड़ों बार उद्यम विफल हो, परन्तु वे आपको अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर होने में हतोत्साह न करेंगे। "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" उठो जागो, जब तक उस लक्ष्य पर नहीं पहुँचते तब तक निश्चेष्ट मत रहो—यद्यपि वह पथ उस्तरे की धार की तरह तीक्ष्ण है—यद्यपि वह पथ दीर्घ है, दूरवर्ती और कठिन है, किन्तु हम उस पथ का अवश्य ही अतिक्रमण करेंगे। मनुष्य साधना के बल से एक दिन देव और असुर दोनों का ही प्रभु हो सकता है। हमारे दुःख के लिए स्वयं हमारे सिवाय और कोई उत्तरदायी नहीं है। आप क्या समझते हैं कि मनुष्य यदि अमृत के लिए चेष्टा करे, तो वह उसके परिवर्तन में विष लाभ करेगा? प्रभु ने स्वयं कहा है—

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

हम जगत् के सब शास्त्रों को एक स्वर से इस वाणी की घोषणा करते हुए सुन रहे हैं । यह वाणी ही हमसे कह रही है—

"स्वर्ग में जैसी, मृत्युलोक में भी तद्रूप ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो; कारण, समुदय ही तुम्हारा राजत्व है, तुम्हारी शक्ति और तुम्हारी महिमा है ।" कठिन, बड़ी कठिन बात है । अभी कहा—"हे प्रभु, मैंने अभी तेरी शरण ली—प्रेममय! तुम्हारे चरणों पर समुदय समर्पण किया—तुम्हारी वेदी पर, जो कुछ भी सत्, जो कुछ भी पुण्य है, सभी कुछ स्थापन किया । मेरा पाप-ताप, भला-बुरा कार्य सब कुछ तुम्हारे ही चरणों पर मैं समर्पण करता हूँ—तुम सब ग्रहण करो—मैं अब तुम्हें कभी न भूलूँगा ।" अभी कहा—"तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ।" पर दूसरे मुहूर्त में ही जब एक परीक्षा में पड़ गया—तब हमारा वह ज्ञान लोप हो गया, मै क्रोध से अंधा हो गया । सब धर्मों का एक ही लक्ष्य है, परन्तु विभिन्न आचार्य विभिन्न भाषाओं का व्यवहार करते रहते हैं । सब की चेष्टा इस झूठे 'अहम्' या कच्चे 'अहम्' का विनाश करना है । तब फिर सत्य के 'अहम्', पक्के 'अहम्'—स्वरूप, एकमात्र वे प्रभु ही रहेंगे । हिब्रू शास्त्र कहता है—"तुम्हारा

प्रभु ईर्ष्यापरायण ईश्वर है—तुम दूसरे किसी ईश्वर की उपासना नहीं करने पाओगे।" हमारे हृदय में एकमात्र ईश्वर ही राज्य करें। हमको कहना होगा, "नाहम्, नाहम्, तूहूं, तुहूं।" तब उस प्रभु को छोड़ हमें सर्वस्व त्यागना होगा; केवल वे ही राज्य करेंगे। मानो हमने खूब कठोर साधना की—परन्तु दूसरे मुहूर्त में ही हमारा पैर फिसल गया—और तब हमने माँ के निकट हाथ बढ़ाने की चेष्टा की—समझ गया कि निज चेष्टा द्वारा अकम्पित भाव से खड़ा होना असम्भव है। हमारा जीवन मानो वह अध्यायसमन्वित ग्रन्थ है, जिसका एक अध्याय यह है कि—"तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।" किन्तु यदि हम उस जीवन-ग्रंथ के सब अध्यायों का मर्म ग्रहण करें, तो समुदय जीवन का अनुभव नहीं कर सकते। "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।" प्रति मुहूर्त ही विद्रोही मन इन सब भावों के विरुद्ध खड़ा हो रहा है, परन्तु हमें यदि इस कच्चे 'अहम्' को जीतना हो, तो बार बार उस बात की आवृत्ति करनी होगी। हममें से एक व्यक्ति विद्रोही की सेवा करे और परित्राण पा जाय—यह कभी हो नहीं सकता। सब का परित्राण है, केवल विद्रोही का परित्राण नहीं है—और हमारे अंग में तो विद्रोह की छाप लग रही है। हम अपनी आत्मा के विरुद्ध विद्रोही है।—हम जब अपने यथार्थ 'अहम्' की वाणी का अनुसरण करने को असम्मत होते है, तब हम उस जगन्माता की महिमा के विरुद्ध विद्रोहाचरण

करते हैं—अतएव चाहे जो कुछ भी हो, हमें अपनी देह और मन को उस इच्छामय की इच्छा में मिला देना पड़ेगा। किसी हिन्दू दार्शनिक ने ठीक कहा है कि यदि मनुष्य—"तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो", यह बात दो बार उच्चारण करे, तो वह पापाचरण करता है। "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।" बस और क्या प्रयोजन है? इसे दो बार कहने की आवश्यकता ही क्या है? जो अच्छा है, वह तो अच्छा है ही। एक बार जब कह दिया "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो" तब तो वह बात लौटायी नहीं जा सकती। स्वर्ग की भाँति मृत्युलोक में भी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, कारण तुम्हारा ही समुदय राजत्व है, तुम्हारी ही सब शक्ति है, तुम्हारी ही सब महिमा है—चिरकाल तक।

# २. सार्वभौमिक धर्म का आदर्श

हमारी इन्द्रियाँ चाहे किसी वस्तु को क्यों न ग्रहण करें, हमारा मन चाहे किसी विषय की कल्पना क्यों न करे, सभी जगह हम दो शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया देखते हैं। ये एक दूसरे के विरुद्ध काम करती हैं और हमारे चारों ओर जटिल घटनाओं का समूह भी हमारी अनुभूत मानसिक भाव-परम्परा को अविश्रान्त कार्य-रूप में परिणत करता है। ये ही दो विपरीत शक्तियाँ बाह्य जगत् में आकर्षण-विकर्षण अथवा केन्द्राभिमुख केन्द्र-विमुख शक्ति के रूप से, और अन्तर्जगत् में रागद्वेष या शुभाशुभ के रूप से प्रकाशित होती हैं। हम कितनी ही चीज़ों को अपने सामने से हटा देते हैं और कितनी ही को अपने सामने खींच लाते हैं, किसी की ओर आकृष्ट होते हैं और किसी से दूर रहना चाहते हैं। हमारे जीवन में ऐसा अनेक बार होता है कि हमारा मन किसी की ओर हमें बलात् आकृष्ट करता है, पर इस आकर्षण का कारण हमें ज्ञात नहीं होता और किसी किसी समय किसी आदमी को देखने ही से बिना किसी कारण मन भागने की इच्छा करता है।

इस बात का अनुभव सभी को है। और इस शक्ति का कार्यक्षेत्र जितना ऊँचा होगा, इन दो विपरीत शक्तियों का प्रभाव उतना ही तीव्र और परिस्फुट होगा। धर्म ही मनुष्य की चिन्ता और जीवन का सब से ऊँचा स्तर है और हम देखते हैं कि धर्म-जगत् में ही इन दो शक्तियों की क्रिया सबसे अधिक परिस्फुट हुई है। अति गम्भीर प्रेम, मनुष्य को किसी समय जिसका स्वाद मिला होगा, धर्म से उत्पन्न होता है। और घोरतम पैशाचिक विद्वेष का भाव जो मनुष्य के हृदय में समुदित होता है, उसका भी जन्मस्थान धर्म ही है। संसार ने किसी समय जो महत्तम शान्ति वाणी सुनी थी, वह धर्म-राज्य के लोगों के मुख से ही निकली थी। और जगत् ने किसी समय जो तीव्रतम निन्दा और अभिशाप सुना है, वह भी धर्म-राज्य के मनुष्यों के मुख से उच्चारित हुआ है। किसी धर्म का उद्देश जितना उच्चतर है, उसकी कार्य-प्रणाली जितनी सूक्ष्म है, उसकी क्रियाशीलता उतनी ही अद्भुत है। धर्म-प्रेरणा से मनुष्यों ने संसार में जो खून की नदियाँ बहाई हैं, मनुष्य के हृदय की और किसी प्रेरणा ने वैसा नहीं किया। और धर्म-प्रेरणा से मनुष्यों ने जितने चिकित्सालय, धर्मशाला, अन्न-क्षेत्र आदि बनाये, उतने और किसी प्रेरणा से नहीं। मनुष्य-हृदय की और कोई वृत्ति उसे, सारी मानव-जाति के लिए तो क्या निकृष्टतम प्राणियों के लिए भी, यत्न करने को प्रवृत्त नहीं करती। धर्म-प्रेरणा से मनुष्य जितना निष्ठुर

हो जाता है, उतना और किसी प्रेरणा से नहीं; उसी प्रकार धर्म-प्रेरणा से मनुष्य जितना कोमल हो जाता है, उतना और किसी प्रवृत्ति से नहीं। अतीत में ऐसा ही हुआ है और बहुत सम्भव है कि भविष्य में भी ऐसा ही हो। तथा विभिन्न जाति और धर्म के संघर्ष से निकले हुए इस द्वन्द्व, कोलाहल, विवाद, अविश्वास और ईर्ष्या-द्वेष से समय समय पर इस प्रकार की वज्र-गम्भीर वाणी निकली है, जिसने इस सारे कोलाहल को दबाकर संसार में शान्ति और मेल की तीव्र घोषणा कर दी थी। सुमेरु पहाड़ से कुमेरु पहाड़ तक उसके वज्र-गम्भीर आह्वान को सुनने के लिए मानव जाति बाध्य हुई है। क्या संसार में किसी समय इस समन्वय का राज्य स्थापित होगा?

धर्म-राज्य के इस प्रबल वाद-विवाद के बीच में क्या कभी एक अविच्छिन्न मिलन-सूत्र का होना सम्भव है? वर्तमान शताब्दी के अन्त में इस मिलन-समस्या को लेकर संसार में एक विवाद चल पड़ा है। इस समस्या को पूरी करने के लिए समाज में कई प्रकार की तरकीबें सोची जा रही हैं और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएँ हो रही हैं। हम सभी लोग जानते हैं कि यह कितना कठिन है। जीवन-संग्राम की भीषणता की तो बात ही जाने दीजिये, मनुष्य के मन में जो प्रबल स्नायविक उत्तेजना रहती है, उसे कम करना मनुष्य एक प्रकार से असम्भव समझता है। जीवन का जो स्थूल एवं

बाह्यांश-मात्र है, उस बाह्य जगत् में साम्य और शान्ति स्थापित करना यदि इतना कठिन है, तो मनुष्य के अन्तर्जगत् में शान्ति और साम्य स्थापित करना उससे हजार गुना कठिन है। आप लोगों को थोड़ी देर के लिए वाक्य-जाल से बाहर आना होगा। हम सभी लोग बाल्यकाल से ही प्रेम, शान्ति, मैत्री, साम्य, सार्वजनीन भ्रातृभाव प्रभृति अनेक बातें सुनते आ रहे हैं। किन्तु इन सभी बातों में से हमारे निकट कितनी ही निरर्थक हो जाती हैं। हम लोग उन्हें तोते की तरह रट लेते हैं और वे मानो हम लोगों के स्वभाव हो गये हैं। हम ऐसा किये बिना रह नहीं सकते। जिन सब महापुरुषों ने पहले अपने हृदय में इस महान् तत्व की उपलब्धि की थी, उन्हीं ने इन वाक्यों की रचना की है। उस समय बहुत से लोग इसका अर्थ समझते थे। दूसरे मूर्ख लोग इन सब बातों को लेकर लड़कों का खिलवाड़ करते हैं। अन्त में धर्म को केवल बातों की मार-पेंच कर दिया जाता है—वे लोग इस बात को भूल गये हैं कि धर्म जीवन में परिणत करने की वस्तु है। धर्म अब 'पैत्रिक धर्म' 'जातीय धर्म' 'देशी धर्म' इत्यादि के रूप में परिणत हो गया है। अन्त में वह स्वदेश-हितैषिता का एक अंग हो जाता है और स्वदेश-हितैषिता सदा एकदेशीय होती है। विभिन्न धर्मों में सामञ्जस्य-विधान करना बहुत ही कठिन काम है। फिर भी हम इस धर्म-समन्वय-समस्या की आलोचना करेंगे।

हम देखते है कि प्रत्येक धर्म के तीन भाग रहते है। मै अवश्य ही प्रसिद्ध और प्रचलित धर्मो की बात कहता हूँ। पहला दार्शनिक भाग—इसमें उस धर्म का सारा विषय अर्थात् मूल तत्व, उद्देश्य और लाभ के उपाय निहित है। दूसरा पौराणिक भाग-यह स्थूल उदाहरणो के द्वारा दार्शनिक भाग को स्पष्ट करता है। इसमे मनुष्यों एवं अतिप्राकृतिक पुरुषों के जीवन के उपाख्यान आदि लिखे हैं। इसमे सूक्ष्म दार्शनिक तत्व, मनुष्यों या अति-प्राकृतिक पुरुषों के थोड़े बहुत काल्पनिक जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाये गये है। तीसरा आनुष्ठानिक भाग—यह धर्म का स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान, शारीरिक विविध अंग-विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी प्रभृति नाना प्रकार की इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्म का संगठन होता है। आप देख सकते हैं कि सारे विख्यात धर्मो के ये तीन विभाग है। कोई धर्म दार्शनिक भाग पर अधिक ज़ोर देता है, कोई अन्य दूसरे भागों पर। पहले दार्शनिक भाग की बातें लेनी चाहिये। प्रश्न उठता है कोई सार्वजनिक दर्शन है या नहीं? अभी तक तो नहीं है। प्रत्येक धर्मवाले अपने मतों की व्याख्या करके उसी को एक मात्र सत्य कहकर उसमें विश्वास करने के लिए ज़िद करते हैं। सिर्फ इतना ही करके शान्त नहीं होते, वरन् वे धर्मावलम्बी समझते हैं कि जो उनके मत में विश्वास नहीं करते, वे किसी भयानक स्थान में

जायँगे। कोई कोई तो दूसरों को अपने मत में लाने के लिए तलवार तक काम में लाते हैं। वे ऐसा दुष्टता से करते हों सो नहीं। मानव-मस्तिष्क-प्रसूत धार्मिक-कट्टरता नामक व्याधि-विशेष की प्रेरणा से वे ऐसा करते हैं। ये धार्मिक-कट्टर सर्वथा कपटहीन होते हैं, मनुष्यों में सब से अधिक कपटहीन होते हैं, किन्तु संसार के दूसरे पागलों की भाँति उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं होता। यह धार्मिक कट्टरता एक भयानक बीमारी है। मनुष्यों में जितनी दुष्ट बुद्धि है, वह सभी धार्मिक कट्टरता के द्वारा जगाई गई है। उसके द्वारा क्रोध आता है, स्नायु-समूह अतिशय चंचल होता है, और मनुष्य शेर की तरह हो जाता है।

विभिन्न धर्मों के पुराणों में क्या कोई सादृश्य या ऐक्य है? क्या ऐसा कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्व है, जिसे सभी धर्मवाले ग्रहण कर सकें? निश्चय ही, नहीं है। सभी धर्मों का अपना अपना पुराण है, किन्तु सभी कहते हैं,—"केवल हमारी पुराणोक्त कथाएँ उपकथा मात्र नहीं हैं।" इस बात को मैं उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा करता हूँ। मेरा उद्देश्य—मेरी कही बातों को उदाहरण के द्वारा समझाना मात्र है—किसी धर्म की समालोचना करना नहीं। ईसाई विश्वास करते हैं कि ईश्वर पण्डुक (एक प्रकार का कबूतर) का रूप धारण कर पृथ्वी में अवतीर्ण हुए थे। उनके निकट यह ऐतिहासिक सत्य है—पौराणिक

कहानी नहीं। हिन्दू लोग गाय को भगवती के आविर्भाव के रूप में मानते हैं। ईसाई कहता है कि इस प्रकार के विश्वास का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है—यह केवल पौराणिक कहानी और कुसंस्कार मात्र है। यहूदी समझते हैं, यदि एक सन्दूक के दो पल्लों में दो देवदूतों की मूर्तियाँ स्थापित की जाँय, तब उसे मन्दिर के सब से भीतरी, बहुत छिपे हुए और अत्यन्त पवित्र स्थान में स्थापित किया जा सकता है—वह जिहोवा की दृष्टि से परम पवित्र होगा, किन्तु यदि किसी सुन्दर स्त्री या पुरुष की मूर्ति होगी, तो वे कहते हैं, "यह एक बीभत्स गुड़िया मात्र है—इसे तोड़ डालो।" पौराणिक भाव से तो हम इसी प्रकार मिलेंगे! यदि कोई खड़ा होकर कहे, "हमारे अवतारों ने इन आश्चर्यजनक कामों को किया," तो दूसरे लोग कहेंगे, "यह केवल कुसंस्कार मात्र है।" किन्तु उसी समय वे लोग कहेंगे कि हमारे अवतारों ने उसकी अपेक्षा और भी अधिक आश्चर्यजनक व्यापार किये थे और वे उन्हें ऐतिहासिक सत्य समझने का दावा करते हैं। मैंने जहाँ तक देखा है, इस पृथ्वी पर ऐसा कोई नहीं है जो इन सब मनुष्यों के मस्तिष्क में रहनेवाले इतिहास और पुराण के सूक्ष्म पार्थक्य को पकड़ सके। इस प्रकार की कहानियाँ—वे चाहे किसी भी धर्म की क्यों न हों—सर्वथा पौराणिक होने पर भी कभी कभी उनमें भी एक प्रकार ऐतिहासिक सत्य हो सकता है।

इसके बाद आनुष्ठानिक भाग आता है। सम्प्रदाय-विशेष की विशेष प्रकार की अनुष्ठान-पद्धति होती है और उस सम्प्रदाय के अनुयायी उसी को धर्म-संगत समझकर विश्वास करते हैं तथा दूसरे सम्प्रदायों की अनुष्ठान-पद्धति को घोर कुसंस्कार समझते हैं। यदि एक सम्प्रदाय किसी विशेष प्रकार की प्रतिमा की उपासना करता है, तो दूसरे सम्प्रदाय वाले कह बैठते हैं, "आह, कितनी भयंकरता है!" एक साधारण मूर्ति-पूजा की ही बात लीजिए। लिंगोपासना में व्यवहृत मूर्ति निश्चय ही पुरुष-चिन्ह है, किन्तु क्रमशः उसे इस ओर के लोग भूल गये हैं और उसका इस समय ईश्वर के स्रष्टा-भाव की मूर्ति के रूप में ग्रहण होता है। जिन जातियों ने उसे मूर्ति के रूप में ग्रहण किया है, वे कभी भी उसे पुरुष-चिन्ह नहीं समझते। वह भी दूसरी मूर्तियों की तरह एक मूर्ति है—बस इतना ही। किन्तु दूसरी जाति या सम्प्रदाय का एक मनुष्य उसे पुरुष-चिन्ह के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझ सकता। इसीलिए वह उसकी निन्दा आरम्भ करता है और जब वह इस प्रकार की निन्दा करता है, उस समय वह लिंगोपासना की बीभत्सता को अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष देखता है। उदाहरण के लिए लिंगोपासना और सैक्रेमेन्ट (Sacrament) नामक ईसाई धर्म के अनुष्ठान-विशेष की बात कही जा सकती है। ईसाइयों के लिए लिंगोपासना में व्यवहृत मूर्ति अति कुत्सित है और हिन्दुओं के लिए ईसाइयों

का सैक्रेमेन्ट बीभत्स है। हिन्दू कहते हैं कि किसी मनुष्य की सद्गुणावलि पाने के अभिप्राय से उसकी हत्या करके उसके मांस को खाना और खून को पीना पैशाचिक नृशंसता है। कोई कोई जंगली जातियाँ भी ऐसा ही करती हैं। यदि कोई आदमी बहुत साहसी होता है, तो वे लोग उसकी हत्या करके उसके हृदय को खाते हैं। कारण, वे समझते हैं उसके द्वारा उन्हें उस व्यक्ति का साहस और वीरत्व आदि गुण प्राप्त होगा। सर जॉन लबक की तरह के भक्त ईसाई भी इस बात को स्वीकार करते है कि जंगली जातियों के इस रिवाज के आधार पर ही ईसाइयों के अनुष्ठान की रचना हुई है। दूसरे ईसाई अवश्य ही अनुष्ठान के उद्भव के सम्बन्ध में इस मत को स्वीकार नहीं करते और उसके द्वारा इस प्रकार के भाव का आभास मिलता है, यह भी उनकी समझ में नहीं आता। वह एक पवित्र वस्तु की मूर्ति है, इतना ही वे जानना चाहते हैं। इसलिए आनुष्ठानिक भाग में भी इस प्रकार कोई साधारण मूर्ति नहीं है, जिसे सब धर्मवाले स्वीकार और ग्रहण कर सकें। ऐसा होने से धर्म के सम्बन्ध में सबका सार्वभौमिकत्व कहाँ है? सार्वभौमिक धर्म किस प्रकार सम्भव है? सच है, किन्तु वह पहले से ही विद्यमान है। अब देखा जाय क्या होता है।

हम सभी लोग सार्वजनीन भ्रातृभाव की बात सुनते हैं और विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों में उसके प्रचार के लिए कितना उत्साह है, उसे देखते हैं।

मुझे एक पुराना किस्सा याद आता है । भारतवर्ष में शराबखोरी बहुत ही नीच समझी जाती है । दो भाई थे, उन दोनों ने रात्रि के समय छिपकर शराब पीने का इरादा किया । बगल के कमरे में उनके चाचा सोये थे, जो बहुत निष्ठावान व्यक्ति थे । इसीलिए शराब पीने के पहले वे लोग सलाह करने लगे, — 'हम लोगों को खूब चुपचाप पीना होगा, नहीं तो चाचा जाग जायँगे ।' वे लोग शराब पीने के पहले बार बार "चुप, चुप, जाग जायेगा" की आवाज करके एक दूसरे को चुप कराने लगे । इस गड़बड़ में चाचा की नींद खुल गई । उन्होंने कमरे मे घुसकर सब कुछ देख लिया । हम लोग भी ठीक इन मतवालों की तरह सार्वजनीन भ्रातृभाव का शोर करते है । हम सभी लोग समान है, इसलिए हम लोग एक दल का संगठन करें । किन्तु ध्यान रहे, ज्योंही आप लोगों ने किसी दल का संगठन किया, त्योंही अपने साम्य के विरुद्ध हो गये, और उसी समय साम्य नामक कोई चीज़ आपके पास नहीं रह जायेगी । मुसलमान सार्वजनीन भ्रातृभाव का शोर मचाते है । किन्तु वास्तविक वे भ्रातृभाव से कितनी दूर हैं! जो मुसलमान नहीं है, वे भ्रातृ-संघ में शामिल नहीं किये जायँगे । उनके गले काटे जाने ही की अधिक सम्भावना है । ईसाई भी सार्वजनीन भ्रातृभाव की बातें करते हैं, किन्तु जो ईसाई नहीं है, उसके लिए अनन्त नरक का द्वार खुला है ।

इस प्रकार हम लोग सार्वजनीन भ्रातृभाव और साम्य के अनुसन्धान में सारी पृथ्वी पर घूमते फिरते है। जिस समय आप लोग कहीं पर इस भाव की बातें सुनें, उसी समय मेरा अनुरोध है, आप थोड़ा धैर्य धरें और सतर्क हो जायँ, कारण इन सब बातों के भीतर प्रायः घोरतर स्वार्थपरता छिपी रहती है। मसल मशहूर है, जो गरजता है सो बरसता नहीं। इसी प्रकार जो लोग यथार्थ कर्मी हैं और अपने हृदय में सबके वास्तविक प्रेम का अनुभव करते हैं, वे लम्बी चौड़ी बातें नहीं करते, किन्तु उनके क्रिया-कलाप, गतिविधि और सारे जीवन के ऊपर ध्यान देने से यह स्पष्ट समझ में आ जायेगा कि उनके हृदय सचमुच ही मानव-जाति के प्रेम से परिपूर्ण हैं, वे सब से प्रेम करते हैं और सब के दुःखों से दुःखी होते हैं, वे केवल बातें न बनाकर काम कर दिखाते हैं—आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। सारी दुनिया की लम्बी चौड़ी बातों की मात्रा इतनी अधिक है कि सारी पृथ्वी उसके नीचे दब जायेगी। हम चाहते है कि बातें बनाना कम होकर यथार्थ काम कुछ अधिक हो।

अभी तक हम लोगों ने देखा है कि धर्म के सम्बन्ध में कोई सार्वभौमिक भाव खोज निकालना ज़रा टेढ़ी खीर है। तथापि हम जानते हैं कि ऐसा भाव वर्तमान है। हम सभी लोग मनुष्य तो अवश्य हैं, किन्तु क्या सभी समान हैं? निश्चय ही नहीं।

कौन कहता है, हम सब समान हैं? एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा बलवान, एक मनुष्य की बुद्धि दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक है। यदि हम सब लोग समान ही होते, तो यह असामञ्जस्य कैसा? किसने यह असामञ्जस्य उपस्थित किया? हम लोगों ने स्वयं ही उसे किया है। हम लोगों में क्षमता, विद्याबुद्धि और शारीरिक बल का तारतम्य होने के कारण निश्चय ही पार्थक्य है। तिस पर भी हम लोग जानते हैं कि इस साम्यवाद ने हम लोगों के हृदय को स्पर्श कर लिया है। हम सब लोग मनुष्य अवश्य हैं, किन्तु हम लोगों में कितने ही पुरुष और कितनी ही स्त्रियाँ हैं। कोई काले हैं और कोई गोरे—किन्तु सभी मनुष्य हैं, सभी एक मनुष्यजाति के अन्तर्गत हैं। हम लोगों का चेहरा भी कई प्रकार का है। दो मनुष्यों का मुँह ठीक एक तरह का हम नहीं देख सकते, तथापि हम सब लोग मनुष्य हैं। मनुष्यत्व रूपी साधारण वस्तु कहाँ है? मैंने जिस किसी काले या गोरे स्त्री या पुरुष को देखा, उन सबके मुँह पर मनुष्यत्व का एक भाव है, जो सब में वर्तमान है। जिस समय मैं उसे पकड़ने की चेष्टा करता हूँ, उसे इन्द्रिय-गोचर करना चाहता हूँ, उसे बाहर प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ, उसे उस समय देख भी नहीं सकता; किन्तु यदि किसी वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें निश्चित ज्ञान हो, तो हममें मनुष्यत्व रूपी जो साधारण भाव है, वही वह वस्तु है। पहले

मनुष्यत्व का साधारण ज्ञान होने दो, इसके बाद मैं आप लोगों को स्त्री और पुरुष का ज्ञान करा सकूँगा। सार्वजनीन धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है। यह ईश्वर-रूप से पृथ्वी के सभी विभिन्न धर्मों में विद्यमान है। यह अनन्तकाल से वर्तमान है और अनन्तकाल तक रहेगा। भगवान् ने कहा है—"मयि सर्वमिदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणा इव।" मैं इस जगत् में मणियों के भीतर सूत्र की भाँति वर्तमान हूँ—इस एक मणि को एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। पृथक् पृथक् मणियाँ एक एक धर्म हैं और प्रभु ही सूत्र रूप से उन सबमें वर्तमान हैं। तिस पर भी अधिकांश लोग इस सम्बन्ध में सर्वथा अज्ञ हैं।

बहुत्व के बीच में एकत्व का होना सृष्टि का नियम है। हम सब लो। मनुष्य होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। मनुष्यजाति के अंश के हिसाब से हम और आप एक हैं, किन्तु जब हम व्यक्तिविशेष होते हैं, तब हम आपसे पृथक् होते हैं। पुरुष होने से आप स्त्री से भिन्न हैं, किन्तु मनुष्य होने के नाते स्त्री और पुरुष एक ही हैं। मनुष्य होने से आप जीवजन्तु से पृथक् हैं। किन्तु प्राणी होने के नाते स्त्री-पुरुष, जीवजन्तु और उद्भिज सभी समान हैं एवं सत्ता के नाते, आपका विराट् विश्व के साथ एकत्व है। भगवान् ही वह विराट् सत्ता हैं—वे इस वैचित्र्यमय जगत्-प्रपंच के चरम एकत्व हैं। उनके

साथ हम सभी लोग एक हैं, किन्तु व्यक्त प्रपंच के बीच में यह भेद अवश्य चिरकाल तक विद्यमान रहेगा। हमारे प्रत्येक बाहरी कार्य और चेष्टा में यह भेद सदा ही विद्यमान रहेगा। इसलिए सार्वजनीन धर्म का यदि यह अर्थ हो कि विभिन्न विशेष मतों में संसार के सभी लोग विश्वास करें, तो यह सर्वथा असम्भव है। यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा समय कभी नहीं आयेगा जब सब लोगों का मुँह एक रंग का हो जाय। और यदि हम आशा करें कि समस्त संसार एक ही पौराणिक तत्त्व में विश्वास करेगा तो यह भी असम्भव है, यह कभी नहीं हो सकता। तीसरे, समस्त संसार में कभी भी एक प्रकार की अनुष्ठान-पद्धति प्रचलित हो नहीं सकती। इस प्रकार का काम किसी समय हो नहीं सकता, अगर कभी हो भी जाय तो सृष्टि लोप हो जायेगी। कारण, वैचित्र्य ही जीवन की मूल भित्ति है। हम लोगों का आकार किसने बनाया है?—वैषम्य ने। सम्पूर्ण साम्य-भाव होने से ही हमारा विनाश अवश्यम्भावी है। समान परिमाण और सम्पूर्ण भाव से विकीर्ण होना ही उत्ताप का धर्म है। मान लीजिए इस घर का सारा उत्ताप उस तरह विकीर्ण हो जाय तो ऐसा होने पर कार्यतः वहाँ उत्ताप नामक कोई चीज़ बाकी न रहेगी। इस संसार की गति किसके लिए सम्भव होती है? समता-च्युति इसका कारण है। जिस समय यह संसार ध्वंस होगा, उसी समय चरम साम्य आ सकेगा;

अन्यथा ऐसा होना असम्भव है। केवल इतना ही नहीं, ऐसा होना विपज्जनक भी है। हम सभी लोग एक प्रकार की चिन्ता करेंगे, ऐसा सोचना भी उचित नहीं है। ऐसा होने से चिन्ता करने की कोई चीज़ न रह जायेगी। अजायबघर में रखी हुई मिश्र देश की ममियों (Mummies) * की तरह हम सभी लोग एक प्रकार के हो जायँगे और एक दूसरे को देखते रहेंगे। हमारे मन में कोई भाव ही न उठेगा। यही पार्थक्य, यही वैषम्य, हममें परस्पर यही असाम्य भाव हमारी उन्नति का प्राण—हमारे समस्त भावों का स्रष्टा है। यह वैचित्र्य सदा ही रहेगा।

सार्वभौमिक धर्म का अर्थ फिर मै क्या समझता हूँ? कोई सार्वभौमिक दार्शनिक तत्त्व, कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्व या कोई सार्वभौमिक आचार-पद्धति, जिसका निरूपण मानकर सबको चलना पड़ेगा—मेरा अभिप्राय नहीं है। कारण, मैं जानता हूँ कि तरह तरह के चक्र-समवायों से गठित, बड़ा ही जटिल और आश्चर्यजनक इस विश्वरूप का जो दुर्बोध और विशाल यन्त्र है, वह सदा ही चलता रहेगा। फिर हम लोग क्या कर सकते है? हम इस यन्त्र को अच्छी तरह चला सकते हैं, इसका घर्षणवेग कम कर सकते हैं—इसके चक्रों को चमकीला रख सकते

* मिश्र देश में मुर्दों को औषधियों के द्वारा कई हजार वर्ष तक कायम रखने की रिवाज है। इस तरह कायम रखी हुई लाश को 'ममी' कहते है।

हैं। वह कैसे? वैषम्य के प्रयोजन को स्वीकार करते हुए। जैसे हम सब ने स्वाभाविक रूप से एकत्व को स्वीकार किया है, उसी प्रकार हमको वैषम्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। हमको यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर प्रकृत सत्य है—हमको यह सीखना होगा कि किसी भी विषय को सैकड़ों प्रकार की विभिन्न दृष्टि से देखने पर वह एक ही वस्तु रहती है। उदाहरणार्थ सूर्य को लीजिए। मान लीजिए, कोई मनुष्य भूतल पर से सूर्योदय देख रहा है; उसको पहले एक गोलाकृति वस्तु दिखाई पड़ेगी। अब मान लीजिए उसने एक कैमेरा लेकर सूर्य की ओर यात्रा की और जब तक सूर्य के निकट न पहुँचे तब तक बार बार सूर्य की प्रतिच्छवि लेने लगा। एक स्थान से लिया हुआ सूर्य का चित्र दूसरे स्थानों से लिये हुए सूर्य के चित्र से भिन्न है—वह जब लौट आएगा, तब उसे मालूम होगा कि मानो वे सब भिन्न भिन्न सूर्यों के चित्र हैं। परन्तु हम जानते हैं कि वह अपने गन्तव्य पथ के भिन्न भिन्न स्थानों से एक ही सूर्य के अनेक चित्र लेकर लौटा है। ईश्वर के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही होता है। उच्च अथवा निकृष्ट दर्शन से ही हो—सूक्ष्म अथवा स्थूल पौराणिक कथाओं के अनुसार ही हो या सुसंस्कृत क्रियाकाण्ड अथवा भूतोपासना द्वारा हो—प्रत्येक

सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक धर्म और प्रत्येक जाति, जान या अनजान में अग्रसर होने की चेष्टा करते हुए, ईश्वर की ओर बढ़ रही है। मनुष्य चाहे जितने प्रकार के सत्य की उपलब्धि करे, उसका प्रत्येक सत्य भगवान के दर्शन के सिवाय और कुछ नहीं है। मान लीजिए हम जलपात्र लेकर जलाशय से जल भरने आए—कोई कटोरी लाया, कोई घड़ा लाया, कोई बालटी लाया, इत्यादि। अब जब हमने जल भर लिया तो क्या देखते हैं कि प्रत्येक पात्र के जल ने स्वभावतः अपने अपने पात्र का आकार धारण किया है। परन्तु प्रत्येक पात्र में वही एक जल है—जो सबके पास है। धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है—हमारे मन भी ठीक पूर्वोक्त पात्रों के समान हैं। हम सब ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं। पात्रों में जो जल भरा हुआ है, ईश्वर उसी जल के समान हैं—प्रत्येक पात्र में भगवद्दर्शन उस पात्र के आकार के अनुसार है, फिर भी वे सर्वत्र एक ही हैं—वे घट घट में विराजमान है। सार्वभौमिक भाव का भी हम यही एकमात्र परिचय पा सकते हैं।

मतवाद की दृष्टि से यह ठीक है। परन्तु धर्म के सामञ्जस्य-विधान को कार्य रूप में परिणत करने का भी कोई उपाय है क्या? हम देखते हैं—"सब धर्ममत ही सत्य हैं"। यह बात बहुत पुराने समय से ही मनुष्य स्वीकार करते आए हैं। भारतवर्ष,

अलेक्‌ज़ेण्ड्रिया, यूरोप, चीन, जापान, तिब्बत यहाँ तक कि अमेरिका आदि स्थानों में भी सर्ववादीसम्मत एक धर्ममत गठन करके सब धर्मों को एक ही प्रेम-सूत्र में ग्रथित करने की सैकड़ो चेष्टाएँ हो चुकीं—परन्तु सब व्यर्थ हुईं, कारण उन्होंने किसी कार्यकारी प्रणाली का अवलम्बन नहीं किया। संसार के सब धर्म ही सत्य हैं यह तो अनेकों ने स्वीकार किया है—परन्तु उन सबको एकत्र करने का उन्होंने कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाया, जिससे वे इस समन्वय के भीतर रहते हुए भी अपनी स्वतंत्रता को बचा रखें। वही उपाय यथार्थ में कार्यकारी हो सकता है, जो व्यक्तिगत धर्ममत के स्वातन्त्र्य को नष्ट न करते हुए, उसको औरों के साथ मिश्रित होने का पथ बता दे। परन्तु अब तक जिन जिन उपायों से धर्म-जगत् में एकता-विधान की चेष्टा की गई है उनसे सभी धर्म सत्य हैं, यह सिद्धान्त मान लेने पर भी ज्ञात होगा कि यथार्थ में उसको कुछ निर्दिष्ट मत-विशेषों में आबद्ध रखने की चेष्टा की गई है और परिणाम-स्वरूप कितने ही परस्पर झगड़नेवाले ईर्ष्यापरायण नये नये दलों की सृष्टि हो गई है।

मेरी भी एक छोटीसी कार्यप्रणाली है। मैं नहीं जानता कि वह कार्यकारी होगी या नहीं, परन्तु मैं उसको विचारार्थ आपके सामने रखता हूँ। मेरी कार्यप्रणाली क्या है? सर्व प्रथम मैं मनुष्यजाति को यह मान लेने का अनुरोध करता हूँ कि कुछ

नष्ट न करो। विनाशक सुधारक लोग संसार का कुछ भी उपकार नहीं कर सकते—किसी वस्तु को भी तोड़कर धूल में मत मिलाओ, वरन् उसका गठन करो। यदि हो सके तो सहायता करो, नहीं तो चुपचाप हाथ उठाकर खड़े हो जाओ और देखो, मामला कहाँ तक जाता है। यदि सहायता न कर सको तो अनिष्ट मत करो। जब तक मनुष्य कपटहीन रहे, तब तक उसके विश्वास के विरुद्ध एक भी शब्द न कहो। दूसरी बात यह है कि जो जहाँ पर है, उसको वहाँ से ऊपर उठाने की चेष्टा करो। यदि यह सत्य है कि ईश्वर सब धर्मों के केन्द्र-स्वरूप हैं और हममें से प्रत्येक एक एक व्यासार्ध से उनकी ओर अग्रसर हो रहा है, तो हम सब निश्चय ही उस केन्द्र मे पहुँचेंगे और सब व्यापारों के मिलन-स्थान में हमारे सब वैषम्य दूर हो जाएँगे। परन्तु जब तक हम वहाँ नहीं पहुँचते, तब तक वैषम्य कदापि दूर नहीं हो सकता। सब व्यासार्ध एक ही केन्द्र में सम्मिलित होते हैं। कोई अपने स्वभावानुसार एक व्यासार्ध से अग्रसर होता है और कोई किसी दूसरे व्यासार्ध से। इसी तरह हम सब अपने अपने व्यासार्ध द्वारा आगे बढ़ें, तब अवश्य ही हम एक ही केन्द्र में पहुँचेंगे। कहावत भी ऐसी है कि "सब रास्ते रोम में पहुँचते हैं।" प्रत्येक अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार बढ़ रहा है और पुष्ट हो रहा है—प्रत्येक व्यक्ति समय के प्रभाव से चरम सत्य की उपलब्धि करेगा, कारण

अन्त में देखा जाता है कि मनुष्य स्वयं ही अपना शिक्षक है। तुम क्या कर सकते हो और मैं क्या कर सकता हूँ? क्या तुम यह समझते हो कि तुम एक शिशु को भी कुछ सिखा सकते हो? नहीं, तुम नहीं सिखा सकते, शिशु स्वयं ही शिक्षा लाभ करता है—तुम्हारा कर्तव्य है सुयोग देना और बाधा दूर करना। एक वृक्ष बढ़ रहा है। क्या तुम उस वृक्ष को बढ़ा सकते हो? तुम्हारा कर्तव्य है, उस वृक्ष के चारों ओर घेरा बना देना, जिससे चौपाये उस वृक्ष को कहीं न चर डालें, इत्यादि—बस वहीं तुम्हारे कर्तव्य का अन्त हो गया—वृक्ष स्वयं ही बढ़ता है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का रूप भी ठीक ऐसा ही है। न कोई तुम्हें शिक्षा दे सकता है और न कोई तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। तुमको स्वयं ही शिक्षा लेनी होगी—तुम्हारी उन्नति तुम्हारे ही भीतर से होगी।

बाहरी शिक्षा देनेवाले क्या कर सकते हैं? वे ज्ञानलाभ की बाधाओं को थोड़ा दूर कर सकते हैं, बस! वहीं उनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। इसीलिए यदि हो सके, तो सहायता करो, नहीं तो विनाश मत करो। तुम इस धारणा का त्याग करो कि तुम किसी को आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न कर सकते हो। यह असम्भव है। यह स्वीकार करो कि तुम्हारी आत्मा को छोड़ तुम्हारा और कोई शिक्षक नहीं है। फिर देखो क्या फल मिलता है। समाज में हम भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों को

देखते हैं। संसार में सहस्रों प्रकार के मन और संस्कार के लोग वर्तमान हैं—उन सबका सम्पूर्ण सामान्यकरण (Generalisation) असम्भव है, परन्तु तब तक हमारी सुविधा के लिए उनको चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम कर्मठ व्यक्ति, जो कर्मेच्छुक हैं, उनकी स्नायुमण्डली और मांसपेशियों में विपुल शक्ति है। उनका उद्देश्य है काम करना, अस्पताल तैयार करना, सत्कार्य करना, रास्ता बनाना, कार्यप्रणाली स्थिर करके संघबद्ध होना। द्वितीय, भावुक, जो चिन्ता करते हैं—जो उस महान् सुन्दर को सर्वान्तःकरण से प्रेम करते हैं। वे सौन्दर्य की चिन्ता करते हैं प्रकृति के मनोरम दृश्यों का उपभोग करने के लिए, और प्रेम करते हैं—प्रेममय भगवान की पूजा करने के लिए। वे विश्व के तमाम महापुरुषों और भगवान के अवतारों पर विश्वास रखते हुए सबकी सर्वान्तःकरण से पूजा करते हैं, प्रेम करते हैं। क्राइस्ट और बुद्ध यथार्थ में थे या नहीं, इसके प्रमाणों की वे परवा ही नहीं करते। क्राइस्ट का दिया हुआ शैलोपदेश कब प्रचारित हुआ था? अथवा श्रीकृष्ण ने कौनसी तारीख को जन्मग्रहण किया था?—इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। उनके निकट तो उनका व्यक्तित्व, उनकी मनोहर मूर्तियाँ ही सबसे बड़े आदर्श हैं। यही भावुकों का आदर्श है, यही उनका स्वभाव है। तृतीय, योगमार्गी व्यक्ति—अपना विश्लेषण करने और मनुष्य के मन की क्रियाओं को जानने—वहाँ कौन कौन शक्ति काम

कर रही है और उन शक्तियों को पहचानने का या उनको परिचालित करने का अथवा उनको वशीभूत करने का क्या उपाय है?—यही सब जानने को वे उत्सुक रहते हैं। चतुर्थ, दार्शनिक, जो प्रत्येक विषय का भाव लेना चाहते हैं—और अपनी बुद्धि द्वारा मानवीय दर्शन से जहाँ तक जाना सम्भव है, उससे भी दूर जाने की इच्छा रखते हैं।

अब बात यह है कि यदि किसी धर्म को सर्वापेक्षा अधिक लोगों के लिए उपयोगी होना हो, तो उसमें इतनी क्षमता होनी आवश्यक है कि वह उन सब भिन्न भिन्न लोगों के लिए उपयुक्त सामग्री जुटाये, और जिस धर्म में इस क्षमता का अभाव है उस धर्म के अन्तर्गत जो जो सम्प्रदाय हैं, वे सब एकदेशीय ही रह जाते हैं। मान लीजिये, आप किसी भक्त-सम्प्रदाय के पास गये। वे गाते हैं, रोते हैं और भक्ति का प्रचार करते हैं; परन्तु यदि आपने उनसे कहा, "मित्र, आप जो कहते हैं, वह ठीक ही है, परन्तु मैं इससें भी कुछ अधिक की आशा रखता हूँ, मैं कुछ युक्ति-तर्क, कुछ दर्शनात्मक आलोचना और विचारपूर्वक इन विषयों को थोड़ा समझना चाहता हूँ," तो वे फौरन आपको बाहर निकाल देंगे और केवल इतना ही नहीं कि आपको चले जाने को ही कहें, वरन् हो सका तो एकदम आपको भवसागर के पार ही भेज देंगे! अब इससे यह फल निकलता है कि वह सम्प्रदाय केवल भावपरायण लोगों की ही

सहायकता कर सकता है। दूसरों की तो वे सहायता कर ही नहीं सकते। उपरान्त, वे उनको विनष्ट करने की चेष्टा करते हैं, और सहायता की तो बात दूर रही, वे दूसरों की कपटशून्यता पर भी विश्वास नहीं रखते, यह सबसे बड़ी भयानक बात है।

अब एक और सम्प्रदाय है—ज्ञानी, वे भारत और प्राच्य के ज्ञान की बड़ाई करते हैं और खूब लम्बे चौड़े परिभाषिक शब्द का व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि मेरे जैसा कोई साधारण आदमी उनके पास जाकर कहे कि "आप मुझे कुछ आध्यात्मिक उपदेश दे सकते हैं?" तो वह ज़रा मुस्कराकर यही कहेंगे, "अजी, तुम्हारी तो अभी बुद्धि की वृत्तियाँ ही साफ नहीं हुईं, तुम आध्यात्मिकता को क्या समझोगे।" वे बड़े ऊँचे दर्जे के दार्शनिक हैं। वे तुमको केवल धर्म का द्वार दिखा दे सकते हैं, बस!

एक और दल है—योगप्रिय। वे जीव के विभिन्न परदे, मन के भिन्न भिन्न स्तर, मानसिक शक्ति की क्षमता इत्यादि कई बातें तुमसे कहेंगे और यदि तुम साधारण आदमी की तरह उनसे कहो कि मुझको कुछ अच्छी बातें बतलाइये, जो मैं कार्यरूप में परिणत कर सकूँ, मैं उतना कल्पनाप्रिय नहीं हूँ, क्या आप कुछ ऐसा मुझे दे सकते हैं, जो मेरे लिए उपयोगी हो?—तो वे हँसकर कहेंगे, "सुनते हो क्या कह रहा है यह निर्बोध? कुछ भी समझ नहीं है—अहमक का जीवन ही व्यर्थ है।" संसार में सर्वत्र यही हाल

है। मैं इन सब भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के चुने चुने धर्म-ध्वजियों को एकत्रित कर एक कमरे में बन्द कर उनके सुन्दर विद्रूप-व्यंजक हास्य का फोटोग्राफ लेना चाहता हूँ।

यही धर्म की वर्तमान अवस्था है, और यही सबका वर्तमान मनोभाव है। मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब प्रकार की मानसिक अवस्थावाले लोगों के लिए उपयोगी हो—इसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे। यदि कालेज से वैज्ञानिक पदार्थविद् अध्यापकगण आवें, तो वे युक्ति-विचार पसन्द करेंगे। उनको जहाँ तक सम्भव हो युक्ति-विचार करने दो, अन्त में वे एक ऐसी स्थिति पर पहुँचेंगे, जहाँ से युक्ति-विचार की धारा अविच्छिन्न रखकर वे और आगे बढ़ ही नहीं सकते,—यह वे समझ लेंगे। वे कह उठेंगे, "ईश्वर, मुक्ति इत्यादि भाव कुसंस्कार हैं—उन सबको छोड़ दो।" मैं कहता हूँ, "हे दार्शनिकवर, तुम्हारी यह पंचभौतिक देह तो उससे भी बड़ा कुसंस्कार है, इसका परित्याग करो। आहार करने के लिए घर में या अध्यापन के लिए दर्शन-क्लास में अब तुम मत जाओ। शरीर छोड़ दो और यदि न हो सके तो चुपचाप बैठकर ज़ोर ज़ोर से रोओ।" क्योंकि धर्म, जगत् के एकत्व और एक ही सत्य के अस्तित्व की सम्यक् उपलब्धि करने का उपाय बता देगा। इसी तरह यदि कोई योगप्रिय व्यक्ति आवे, तो हम उनकी आदर के साथ अभ्यर्थना करके वैज्ञानिक भाव से

मनस्तत्व-विश्लेषण कर देने और उनकी आँखों के सामने उसका प्रयोग दिखाने को प्रस्तुत रहेंगे। यदि भक्त लोग आएँ तो हम उनके साथ एकत्र बैठकर भगवान के नाम पर हँसेंगे और रोएँगे, प्रेम का प्याला पीकर उन्मत्त हो जाएँगे। यदि एक वीर्यवान कर्मी आए, तो उसके साथ यथासाध्य काम करेंगे। भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म के इस प्रकार का समन्वय सार्वभौमिक धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा। भगवान की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म का प्रत्येक भाव ही पूर्ण मात्रा में और साथ ही समभाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा। जिसके चरित्र में इन भावों में से एक या दो प्रस्फुटित हुए है, मै उनको एकदेशीय कहता हूँ और सारा संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जो केवल अपना ही रास्ता जानते है। इसके सिवाय अन्य जो कुछ है, वह सब उनके निकट विपत्तिकर और भयंकर है। इस तरह चारों ओर समभाव से विकास लाभ करना ही मेरे कहे हुए धर्म का आदर्श है और भारतवर्ष में हम जिसको योग कहते है, उसी के द्वारा इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मी के लिए यह मनुष्य के साथ मनुष्य-जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा और परमात्मा का योग, भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान का योग और ज्ञानी के लिए बहुत्व के बीच एकत्वानु-

भूतिरूप योग है। 'योग' शब्द से यही अर्थ निकलता है। यह एक संस्कृत शब्द है और संस्कृत में चार प्रकार के इस योग के भिन्न भिन्न नाम हैं। जो इस प्रकार का योग-साधन करना चाहते हैं, वे ही योगी हैं। जो कर्म के भीतर से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें कर्मयोगी कहते हैं। जो भगवान के भीतर से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें भक्तियोगी कहते हैं। जो मनसंयोग के भीतर से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें राजयोगी कहते हैं और जो ज्ञान-विचार के बीच इस योग का साधन करते हैं, उन्हें ज्ञानयोगी कहते है। अतएव योगी कहने मे इन सभी का अर्थ निकलता है।

पहले राजयोग की ही बात लीजिये। इस राजयोग—इस मनसंयोग का अर्थ क्या है? (इंग्लैंड में) आप लोगों ने योग शब्द के साथ भूत-प्रेत इत्यादि तरह तरह की अजीब धारणाएँ कर रखी हैं। इसलिए मैं पहले ही आप लोगों से कह देता हूँ कि योग के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कोई भी योग युक्ति-विचारों का परित्याग कर आँखों में कपड़ा बाँधकर ढूँढ़ते फिरना या अपने युक्ति-विचारों को कुछ ऐरे गैरे पुरोहितों के हाथ समर्पण करने को नहीं कहता। उनमें से कोई भी नहीं कहता कि तुमको किसी मनुष्य के निकट श्रद्धा-भक्ति अर्पण करनी होगी। प्रत्येक ही यह कहता है कि तुम अपनी विचार-शक्ति को दृढ़ आलिंगन कर उसी में लगे रहो। प्राणियों में

ज्ञान–लाभ के हम तीन उपाय देखते हैं। पहला तो सहज ज्ञान, जो जीव-जन्तुओं में विशेष परिस्फुटित देखा जाता है। यह ज्ञान-लाभ का सबसे निम्न उपाय है। दूसरा उपाय क्या है? विचार-शक्ति। मनुष्यों में ही इसका समधिक विकास दिखाई पड़ता है। पहला तो सहज ज्ञान है, वह एक असम्पूर्ण उपाय है। जीव-जन्तु का कार्यक्षेत्र बहुत ही संकीर्ण है और इस संकीर्ण क्षेत्र में ही सहजात ज्ञान काम आता है। मनुष्य के लिए यही सहज ज्ञान विशेष परिस्फुटित होकर विचार-शक्ति में परिणत हुआ है। साथ ही कार्यक्षेत्र भी बढ़ गया है, फिर भी यह विचार-शक्ति बहुत असम्पूर्ण है। यह कुछ दूर अग्रसर होकर ही रह जाती है, फिर आगे नहीं बढ़ सकती और यदि उसको और आगे ले जाने की चेष्टा करो, तो फल-स्वरूप भयानक गोलमाल उपस्थित हो जाएगा। युक्ति अपने आप अयुक्ति में परिणत हो जाएगी। न्याय की भाषा में यह अन्योन्याश्रय (Arguement in a circle) से दूषित हो जाएगी।

हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के मूलभूत कारण जड़ और शक्ति की बात लीजिये। जड़ क्या है?–जिस पर शक्ति कार्य करती है। और शक्ति क्या है?—जो जड़ पर कार्य करती है। आप लोग अवश्य समझ गये होंगे कि गोलमाल क्या है। न्यायशास्त्रविद् इसको अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं—पहले का भाव दूसरे पर निर्भर हो रहा है—और दूसरे का भाव पहले पर निर्भर हो रहा है। इसीलिए आपकी युक्ति के पथ में एक बड़ी भारी

बाधा दिखाई पड़ रही है, जिसको लाँघकर युक्ति अग्रसर हो नहीं सकती। तथापि इसके पश्चात् जो अनन्त राज्य विद्यमान है, वहाँ पहुँचने के लिए युक्ति सदा व्यस्त है। पंचेन्द्रियगम्य और मन के विषयीभूत, हमारी संज्ञा के ऊपर प्रतिफलित उस अनन्त का एक कण-मात्र और संज्ञारूप जाल से घिरे हुये, इस निखिल विश्व-जगत् के क्षुद्र घेरे के भीतर ही हमारी विचार-शक्ति काम करती है—उसके बाहर नहीं जा सकती। इस कारण इसके बाहर निकलने के लिए और किसी उपाय का प्रयोजन है। अतीन्द्रियबोध वह उपाय है। अतएव सहज ज्ञान, विचार-शक्ति और अतीन्द्रियबोध, ये तीनों ही ज्ञानलाभ के उपाय हैं। पशुओं में सहज ज्ञान, मनुष्य में विचार-शक्ति और देव-मानव में अतीन्द्रियबोध दिखाई पड़ता है। परन्तु सब मनुष्यों में ही इन तीनों शक्तियों का बीज थोड़ा बहुत परिस्फुटित दिखाई पड़ता है। इन सब मानसिक शक्तियों का विकास होने के लिए उनके बीजों का भी मन में विद्यमान रहना आवश्यक है और यह भी स्मरण रखना कर्तव्य है कि एक शक्ति दूसरी शक्ति की विकसित अवस्था ही है, इसलिए वे परस्पर-विरोधी नहीं हैं। विचार-शक्ति ही परिस्फुटित होकर अतीन्द्रियबोध में परिणत हो जाती है, इसीलिए अतीन्द्रियबोध विचार-शक्ति का परिपन्थी नहीं है, परन्तु उसकी पूर्णता का साधन करता है। जो जो विषय विचार-शक्ति के द्वारा समझ में नहीं आते उन सबको

अतीन्द्रियबोध द्वारा समझना होता है और वह विचार-शक्ति का विरोधी नहीं है। वृद्ध बालक का विरोधी नहीं है, परन्तु उसी की पूर्ण परिणति है। अतएव आपको सर्वदा स्मरण रखना होगा कि निम्न श्रेणी की शक्ति को उच्च श्रेणी की शक्ति कहकर भूल की गई है, उससे भयानक विपद की सम्भावना है। अनेक बार सहज ज्ञान को अतीन्द्रियबोध कह दिया जाता है और साथ ही भविष्यद्वक्ता बनने का झूठा दावा भी किया जाता है। एक निर्बोध या अर्धोन्मत्त आदमी समझता है कि उसके दिमाग में जो पागलपन है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह चाहता है कि लोग उसका अनुसरण करें। संसार में जो परस्पर-विरोधी असम्बद्ध प्रलाप-वाक्य प्रचारित हुए हैं, वे केवल विकृतमस्तिष्क उन्मत्त लोगों के सहज ज्ञानलब्ध प्रलाप को अतीन्द्रियबोध की भाषा में प्रकाश करने की चेष्टा मात्र हैं।

प्रकृत शिक्षा का प्रथम लक्षण यह होना चाहिये कि यह किसी प्रकार युक्ति-विरोधी न हो। आपको इससे ज्ञात हो जाएगा कि ऊपर लिखे हुए सब योग इसी भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं। पहले राजयोग की बात लीजिए। राजयोग मनस्तत्व विषय का योग है—मनस्तत्व के विश्लेषण से ही एकत्व को प्राप्त किया जा सकता है। विषय खूब बड़ा है; इसलिए मैं अभी इस योग के आभ्यन्तरीण मूल भाव को आप लोगों के सामने व्यक्त करता हूँ। हम लोगों के लिए ज्ञानलाभ का केवल एक ही उपाय है।

निम्नतम मनुष्य से लेकर सर्वोच्च 'योगी' तक को उसी उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। वह उपाय है एकाग्रता। रसायनविद् जब अपनी प्रयोगशाला ( Laboratory ) में काम करते हैं, तब वे अपने मन की सारी शक्ति को एकत्रित कर लेते हैं—केन्द्रीभूत कर लेते हैं,—और उस केन्द्रीभूत शक्ति का मूल-भूतों के ऊपर प्रयोग करते ही, वे सब विश्लेषित हो जाते हैं और इस प्रकार वे उनका ज्ञान लाभ करने में समर्थ होते हैं। ज्योतिर्विद् भी अपनी समग्र मनःशक्ति को एकीभूत कर—केन्द्रीभूत कर—दूरवीक्षण यंत्र के भीतर से वस्तु के ऊपर प्रयोग करते हैं जिससे घूमने वाले तोरे और ग्रहमण्डल उनके निकट अपने रहस्य उद्घाटित करते हैं। चाहे विद्वान अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है, तो उसको उपरोक्त प्रथा से ही काम लेना पड़ेगा। आप सब मेरी बातों को सुन रहे हैं, यदि मेरी बातें आपको अच्छी लगीं, तो आपका मन मेरी बातों के प्रति एकाग्र हो जाएगा। फिर यदि आपके कान के पास कोई घंटा भी बजावे, तो आपको सुनाई नहीं देगा, कारण आपका मन उस समय किसी अन्य विषय में एकाग्र हुआ रहेगा। आप अपने मन को जितना अधिक एकाग्र करने में समर्थ होंगे, उतना ही अधिक आप मेरी बातों को समझ सकेंगे और मैं अपने प्रेम और शक्तिसमूह को जितना

ही अधिक एकाग्र कर सकूँगा, उतना ही अधिक अच्छी तरह से मैं आपको अपनी बात समझा सकूँगा। यह एकाग्रता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक मनुष्य ज्ञानलाभ करेंगे, कारण—यही ज्ञानलाभ का एकमात्र उपाय है—"नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"। मोची यदि ज़रा अधिक मन लगाकर काम करे, तो वह जूतों को अधिक अच्छी तरह से पालिश कर सकेगा। रसोईदार एकाग्र होने से भोजन को अच्छी तरह पका सकेगा। अर्थ का उपार्जन हो, चाहे भगवद्-आराधना हो—जिस काम में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतने ही अधिक अच्छे प्रकार से सम्पन्न होगा। द्वार के निकट जाकर बुलाने से या खटखटाने से जैसे द्वार खुल जाता है, उसी भाँति केवल इस उपाय से ही प्रकृति के भाण्डार का द्वार खुलकर विश्व में प्रकाश-धारा प्रवाहित होती है। राजयोग में केवल इसी विषय की आलोचना है। अपनी वर्तमान शारीरिक अवस्था में हम बड़े ही अन्यमनस्क हो रहे है। हमारा मन इस समय सैकड़ों ओर दौड़-कर अपना शक्ति-क्षय कर रहा है। जब कभी मैं व्यर्थ की सब चिन्ताओं को छोड़कर ज्ञानलाभ के उद्देश्य से मन को स्थिर करने की चेष्टा करता हूँ, तब न जाने कहाँ से मस्तिष्क में हज़ारों बाधायें आ जाती हैं। हज़ारों चिन्ताएँ मन में एक संग आकर उसको चंचल कर देती हैं। किस प्रकार से इन सबका निवारण कर मन को वशीभूत किया जाय, यही राजयोग का एकमात्र आलोच्य विषय है।

अब कर्मयोग अर्थात् कर्म द्वारा ईश्वर-लाभ की बात लीजिये। संसार में ऐसे लोग बहुत देखे जाते हैं, जिन्होंने मानो किसी न किसी प्रकार का काम करने के लिए ही जन्म ग्रहण किया है। उनका मन केवल चिन्ता-राज्य में ही एकाग्र होकर नहीं रह सकता—वे केवल कार्य को समझते हैं जो आँखों से देखा जा सकता है और हाथों से किया जा सकता है। इस प्रकार के लोगों के लिए एक सुश्रृंखल व्यवस्था की आवश्यकता है। हममें से प्रत्येक ही किसी न किसी प्रकार का काम कर रहा है; परन्तु हम लोगों में अधिकतर लोग अपनी अधिकांश शक्ति का दुर्व्यवहार करते हैं, कारण यह है कि हमें कर्म का रहस्य ज्ञात नहीं है। कर्मयोग इस रहस्य को समझा देता है और कहाँ किस भाव से कार्य करना होगा, उपस्थित कर्म में किस भाव से हमारी समस्त शक्ति का प्रयोग करने से सर्वापेक्षा अधिक फल लाभ होगा, इस बात की शिक्षा देता है। हाँ, कर्म के विरुद्ध, यह कहकर जो प्रबल आपत्ति उठाई जाती है कि वह दुःखजनक है, इसका भी विचार करना होगा, सब दुःख और कष्ट आते हैं आसक्ति से—मैं काम करना चाहता हूँ, मै किसी मनुष्य का उपकार करना चाहता हूँ। अब प्रायः यही देखा जाता है कि मैंने जिसकी सहायता की है, वह व्यक्ति सारे उपकारों को भूलकर मुझसे शत्रुता करेगा—फल यह होगा कि मुझे कष्ट पाना होगा। ऐसी घटनाओं के फल से

ही मनुष्य कर्म से विरत हो जाता है और इन दुःखों और कष्टों का भय ही मनुष्यों के कर्म और उद्यम को अधिक नष्ट कर देता है। किसकी सहायता की जा रही है अथवा किस कारण से सहायता की जा रही है, इत्यादि विषयों पर लक्ष्य न रखते हुए अनासक्त भाव से केवल कर्तव्य समझ कर कर्म करना चाहिये, कर्मयोग यही शिक्षा देता है। कर्मयोगी कर्म करते हैं, कारण यह उनका स्वभाव है, वे अपने दिल में इसका अनुभव करते हैं कि ऐसा करना ही उनके लिए कल्याणजनक है—इसको छोड़ उनका और कोई उद्देश्य नहीं रहता। वे संसार में सर्वदा दाता का आसन ग्रहण करते हैं, कभी किसी वस्तु की प्रत्याशा नहीं रखते। वे जान बूझकर दान करते जाते हैं, परन्तु प्रतिदान-स्वरूप वे कुछ नहीं चाहते, इसी कारण वे दुःखों के हाथ से रक्षा पाते हैं। जब दुःख हमको ग्रसित करता है, तब यही समझना होगा कि यह केवल 'आसक्ति' की प्रतिक्रिया है।

अब इसके बाद, भावुक और प्रेमी लोगों के लिए भक्तियोग है। भक्त चाहते हैं भगवान से प्रेम करना। वे धर्म के अंगस्वरूप क्रियाकलापों की सहायता लेते हैं और पुष्प, गन्ध, सुरम्य मन्दिर, मूर्ति इत्यादि नाना प्रकार के द्रव्यों से सम्बन्ध रखते हैं। आप लोग क्या यह कहना चाहते हैं कि वे भूल करते हैं? मैं आपसे एक सच्ची बात कहना चाहता हूँ, वह आप लोगों को—विशेष कर

इस देश में—स्मरण रखना उचित है। जो सब धर्म-सम्प्रदाय अनुष्ठान और पौराणिक तत्व-सम्पद से समृद्ध हैं, विश्व के श्रेष्ठ आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न महापुरुषों ने उन्हीं सम्प्रदायों में जन्म ग्रहण किया है। और जो सब सम्प्रदाय, किसी प्रतीक या अनुष्ठान-विशेष की सहायता बिना ही भगवान के लाभ की चेष्टा करते हैं, जो धर्म की सारी सुन्दरता, महानता तथा और सब कुछ निर्मम भाव से पददलित करते हैं अत्यन्त बारीक दृष्टि से देखने पर भी उनका धर्म केवल कट्टरता है, शुष्क है। जगत् का इतिहास इसका ज्वलन्त साक्षी है। इसलिए इन सब अनुष्ठान तथा पुराणों आदि को गाली मत दीजिये। जो लोग इन्हें लेकर रहना चाहते हैं उन्हें रहने दीजिये। आप व्यर्थ ही व्यंग्यात्मक हँसी हँसकर यह मत कहिये कि "वे मूर्ख हैं, उन्हें उसी को लेकर रहने दो।" यह बात कदापि नहीं है; मैंने जीवन में जिन सब आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न श्रेष्ठ महापुरुषों के दर्शन किये हैं वे सब इन्हीं अनुष्ठानादि नियमों के मध्य अग्रसर हो रहे हैं। मैं अपने को उनको पैरों तले बैठने के योग्य भी नहीं समझता और उस पर भला मैं उनकी समालोचना करूँ? ये सब भाव मानव-मन में किस तरह कार्य करते हैं और उनमें से कौनसा हमारे लिए ग्राह्य है तथा कौनसा त्याज्य है, इसे मैं कैसे समझूँ? हम उचित अनुचित न समझते हुए भी संसार की सारी वस्तुओं की समालोचना करते रहते हैं। लोगों की जितनी इच्छा हो, उन्हें इन सब सुन्दर उद्दीपनापूर्ण पुराणादि को

ग्रहण करने दीजिये; कारण आपको सर्वदा स्मरण रखना उचित है कि भावुक लोग सत्य की कुछ नीरस संज्ञा-मात्र को लेकर रहना बिल्कुल पसन्द नहीं करते। भगवान उनके निकट "धरने छूने की वस्तु है। वही एकमात्र सत्य वस्तु है।" वे अनुभव करते हैं, वे बात सुनते हैं, वे देखते हैं, वे प्रेम करते हैं। वे अपने भगवान को ही लेकर रहें। आपकी युक्तिवादिता, भक्त के निकट उसी प्रकार निर्बोध है जैसे कोई व्यक्ति एक सुन्दर मूर्ति को देखने ही उसे चूर्ण कर यह देखना चाहे कि वह किस पदार्थ की निर्मित है। भक्ति-योग उनको निःस्वार्थ भाव से प्रेम करने की शिक्षा देता है। कोई गूढ़ अभिसन्धि न रहे। लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा कोई भी इच्छा न रहे। केवल भगवान को अथवा जो कुछ मंगलमय है, केवल उसी से कर्तव्य समझ कर प्रेम करना। प्रेम ही प्रेम का श्रेष्ठ प्रतिदान है और भगवान ही प्रेम-स्वरूप हैं—यही भक्तियोग की शिक्षा है।

भगवान सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शास्ता और पिता-माता हैं, यह कहकर उनके प्रति हृदय की सारी भक्ति और श्रद्धा अर्पण करने की ही शिक्षा भक्तियोग देता है। भाषा जो उनका सर्वश्रेष्ठ प्रकाश कर सकती है, अथवा मनुष्य उनके सम्बन्ध में जो सर्वोच्च धारणा कर सकता है, वह यह है कि वे प्रेममय हैं? "जहाँ कहीं भी किसी प्रकार का प्रेम है वहीं वे हैं, वहीं प्रभु विद्यमान हैं। पति जब स्त्री को चुम्बन करता है उस चुम्बन में भी वे विद्यमान हैं। माता जब शिशु को चुम्बन करती है, तो उसमें भी वे

वर्तमान हैं। मित्रों के करमर्दन में भी प्रभु विद्यमान हैं।" जब कोई महापुरुष मानव-जाति के प्रेम के वशीभूत हो, उनका कल्याण करने की इच्छा करते हैं, तब प्रभु ही अपने मानव-प्रेम-भाण्डार से मुक्त-हस्त हो प्रेम वितरण करते हैं। जहाँ हृदय का विकास है, वहीं उनका प्रकाश है। भक्तियोग से इन्हीं सब बातों की शिक्षा मिलती है।

अब अन्त में मैं ज्ञानयोगी की बात की आलोचना करूँगा—वे दार्शनिक और चिन्ताशील हैं जो इस दृश्य जगत् के परे जाना चाहते हैं—वे संसार की तुच्छ वस्तुओं को लेकर सन्तुष्ट नहीं रह सकते। वे आहारादि प्रतिदिन के नित्य-कर्म के परे चले जाना चाहते हैं—हजारों पुस्तकें पढ़ने पर भी उनकी शान्ति नहीं होती, यहाँ तक कि समग्र भौतिक विज्ञान भी उनको परितृप्त नहीं कर सकता। कारण वे बहुत प्रयत्न करने पर इस क्षुद्र पृथ्वी को ही ज्ञानगोचर कर सकते हैं। बाह्य ऐसा क्या है, जो उनका सन्तोष कर सके? कोटि कोटि सौर जगत् भी उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते; अपनी दृष्टि में वे 'सत्' सिन्धु में केवल एक बिन्दु हैं। उनकी आत्मा इन सबके पार—सब अस्तित्वों का जो सार है, उसी में डूब जाना चाहती है—सत्यस्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहती है। वे इसकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उसके साथ तादात्म्य लाभ करना चाहते हैं, उस विराट सत्ता के साथ एक हो जाना चाहते हैं। वे ही ज्ञानी है। भगवान, जगत् के पिता,

माता, सृष्टिकर्ता, रक्षाकर्ता, पथप्रदर्शक इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान की महिमा प्रकाश करने में वे असमर्थ हैं। वे सोचते हैं, भगवान उनके प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा हैं, भगवान उनकी ही आत्मा हैं। भगवान को छोड़कर और कोई भी वस्तु नहीं है। उनका समुदय नश्वर अंश विचारों के प्रबल आघात से चूर्ण विचूर्ण होकर उड़ जाता है। अन्त में जो सचमुच ही विद्यमान रहता है वही स्वयं भगवान है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥"

एक ही वृक्ष पर दो पक्षी हैं; एक ऊपर, एक नीचे। ऊपर का पक्षी स्थिर, निर्वाक् व महान् है और अपनी ही महिमा में विभोर है; नीचे की डाल पर जो पक्षी है, वह कभी मिष्ट और कभी तिक्त फल खा रहा है, एक डाल पर से दूसरी डाल पर जा रहा है और पर्यायक्रम से अपने को कभी सुखी और कभी दुःखी समझता है। कुछ क्षण बाद नीचे के पक्षी ने एक बहुत ही कड़ुआ फल खाया और साथ ही अपने को धिक्कारते हुए ऊपर की ओर देखा

दूसरे पक्षी को देखा—वह अपूर्व सुनहले परवाला पक्षी न तो मीठे फल खाता है और न कड़ुवे। अपने को न तो दुःखी समझता है और न सुखी ही; परन्तु शान्त भाव से अपने में ही विभोर है; उसे अपनी आत्मा को छोड़ और कुछ भी दिखाई नहीं देता। नीचे का पक्षी इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यग्र हुआ; परन्तु शीघ्र ही भूल गया और फिर फल खाने लगा। थोड़ी देर बाद फिर उसने एक बड़ा ही कड़ुआ फल खाया, जिससे उसके मन में बड़ा दुःख हुआ और फिर उसने ऊपर की ओर दृष्टि डाली और ऊपरवाले पक्षी के निकट जाने की चेष्टा की, परन्तु फिर भूल गया और कुछ क्षण बाद फिर ऊपर देखा। कई बार ऐसा ही करते हुए, वह ऊपर के पक्षी के बिलकुल निकट पहुँच गया और देखा कि उसके पंखों में से ज्योति का प्रकाश निकल कर उसकी देह की चारों तरफ पड़ रहा है। उसने एक परिवर्तन का अनुभव किया—मानो वह मिलने जा रहा है; वह और भी पास गया, देखा उसके चारों तरफ जो कुछ था, सब गला जा रहा है—अन्तर्हित हो रहा है। अन्त में उसने इस अद्भुत परिवर्तन का अर्थ समझा। नीचे का पक्षी मानो ऊपरवाले पक्षी की एक घनीभूत छायामात्र था—केवल प्रतिबिम्ब था! वह स्वयं बराबर स्वरूपतः ऊपर वाला पक्षी ही था। नीचेवाले पक्षी का मीठा और कड़ुआ फल खाना और एक के बाद एक सुख और दुःख का बोध करना—सब मिथ्या—सब स्वप्न-मात्र है; वह प्रशान्त, निर्वाक्, महिमामय, शोकदुःखातीत ऊपर-

वाला पक्षी ही सर्वदा विद्यमान था। ऊपरवाला पक्षी ईश्वर, परमात्मा—जगत्-प्रभु है और नीचेवाला पक्षी, जीवात्मा ही इस जगत् के सुख-दुःख रूपी मीठे कड़ुवे फलों का खाने वाला है। बीच बीच में जीवात्मा के ऊपर प्रबल आघात आ पड़ता है; वह कुछ दिन के लिए फलभोग बन्द कर उस अज्ञात ईश्वर की ओर अग्रसर होता है—उसके हृदय में सहसा ज्ञानज्योति का प्रकाश होता है। तब वह समझता है—यह संसार केवल झूठा दृश्यजाल है, परन्तु फिर इन्द्रियाँ उसे बहिर्जगत् में उतार लाती हैं और पूर्व की भाँति फिर वह जगत् के अच्छे बुरे फलभोगों में लग जाता है। पुनः एक अत्यन्त कठोर आघात पाता है और फिर उसका हृदय-द्वार उन्मुक्त होकर उसमें ज्ञान प्रकाश करता है। इस तरह धीरे धीरे वह भगवान की ओर अग्रसर होता है और जितना ही वह अधिकतर निकटवर्ती होने लगता है, उतना ही वह देखता है कि उसके अहंकारी 'मैं' का अपने आप ही लय होता जा रहा है। जब वह खूब निकट आ जाता है, तब देख पाता है कि वह स्वयं ही भगवान है और बोल उठता है, जिनको मैंने तुम्हारे निकट जगत् का जीवन और अणु-परमाणु तथा चन्द्र-सूर्य तक में विद्यमान रहने वाला कहकर वर्णन किया है, वे ही हमारे इस जीवन का अवलम्बन हैं, हमारी आत्माओं की आत्मा हैं। केवल यही नहीं, "तुम ही वह हो, तत्त्वमसि"—ज्ञानयोग हमको यही शिक्षा देता है। यह मनुष्य से कहता है तुम्हीं स्वरूपतः भगवान हो। यह मनुष्य को प्राणी-

जगत् के बीच यथार्थ एकत्व दिखा देता है—हममें से प्रत्येक के भीतर से प्रभु ही इस जगत् में प्रकाशित हो रहे हैं। अत्यंत सामान्य पददलित कीट से लेकर जिनको हम सविस्मय हृदय की श्रद्धा-भक्ति अर्पण करते हैं, उन श्रेष्ठ जीवों तक सभी उस एकमात्र भगवान के प्रकाश हैं।

आखिरी बात यह है—इन सब विभिन्न योगों को हमें कार्य में परिणत करना ही होगा; केवल उनके सम्बन्ध में जल्पना-कल्पना करने से कुछ न होगा। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' पहले उनके सम्बन्ध में सुनना पड़ेगा—फिर श्रुत विषयों पर चिन्ता करनी होगी। हमें उन सबको अच्छी तरह विचारपूर्वक समझना होगा जिससे हमारे मन में उनकी एक छाप पड़ जाय। इसके बाद उनका ध्यान और उपलब्धि करनी पड़ेगी—जब तक कि हमारा समस्त जीवन तद्भावभावित न हो उठे। तब धर्म हमारे लिए केवल कतिपय धारणा, मतवाद-समष्टि अथवा कल्पना रूप ही नहीं रहेगा। भ्रमात्मक खयाल से आज हम अनेक मूर्खताओं को सत्य समझ कर ग्रहण करके कल ही शायद सम्पूर्ण मत—परिवर्तन कर सकते हैं, किन्तु यथार्थ धर्म कभी परिवर्तित नहीं होता। धर्म अनुभूति की वस्तु है—वह मुख की बात, मतवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पनामात्र नहीं है—चाहे वह जितना ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना—उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है—वह केवल सुनने या मान लेने की चीज़ नहीं है। समस्त मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जाएगा। यही धर्म है।

---

# ३. सार्वभौमिक धर्मलाभ का उपाय *

जिस अनुसन्धान के फल से हम भगवान के निकट ज्ञान प्राप्त करते हैं, मनुष्यों के हृदय में उसकी अपेक्षा दूसरा प्रियतर अनुसन्धान नहीं है। अतीत काल में, अथवा वर्तमान काल में मनुष्यों ने 'आत्मा' 'ईश्वर' और 'अदृष्ट' आदि के सम्बन्ध में जितनी आलोचनायें की हैं, उतनी आलोचना और किसी विषय की नहीं की। हम अपने दैनिक कर्म, उच्चाकांक्षा और अपने कर्तव्य आदि में चाहे कितने ही क्यों न डूबे रहें, परन्तु सर्वापेक्षा कठोर हमारे जीवन-संग्राम में कभी कभी एक ऐसा स्थिर मुहूर्त आ जाता है—उस समय मन सहसा रुककर इस जगत्-प्रपंच के पार क्या है, इसे जानना चाहता है, कभी कभी वह अतीन्द्रिय राज्य का आभास पाता है, और उसी के फल से उसे पाने की यथासाध्य चेष्टा करता रहता है। मनुष्य अतीन्द्रिय-दर्शन की इच्छा करता है, अपने को विस्तार करने की इच्छा करता है; और हम जिसे उन्नति या क्रमाभिव्यक्ति

* ता. २८ जनवरी १९०० को केलिफोर्निया के पॅसेडेना नगरस्थ सार्वभौमिक धर्ममन्दिर में स्वामीजी द्वारा दी हुई वक्तृता।

कहते हैं वह सदा मनुष्य-जीवन की चरम गति अथवा ईश्वरानुसंधानरूपी एकमात्र अनुसन्धान के द्वारा ही परिमित होती है।

विभिन्न जातियों के विभिन्न प्रकार के समाज-गठन से जिस तरह हमें अपने सामाजिक जीवन-संग्राम का परिचय मिलता है, उसी तरह जगत् के विभिन्न धर्मसम्प्रदाय-समूह ही मनुष्यों को आध्यात्मिक जीवन-संग्राम का परिचय प्रदान करता है। भिन्न भिन्न समाज जिस प्रकार सर्वदा ही आपस में कलह और संग्राम कर रहे हैं—उसी प्रकार ये धर्म-सम्प्रदाय भी सर्वदा परस्पर कलह और संग्राम कर रहे हैं। किसी एक विशेष समाज के लोगों का दावा है कि एकमात्र उन्हें ही जीवित रहने का अधिकार है,—और जब तक सम्भव हो, वे दुर्बल के ऊपर अत्याचार करते हुए, अपना वह अधिकार जमाये रहते हैं। हमें ज्ञात है कि ऐसा एक अत्याचार वर्तमान समय में भी दक्षिण अफ्रीका में हो रहा है। इसी तरह प्रत्येक धर्मसम्प्रदाय का भी दावा है कि केवल उसे ही जीवित रहने का अधिकार है। अब हम देखते हैं कि यद्यपि मानव-जीवन में धर्म ही सर्वापेक्षा अधिक शान्तिदायी है तथापि धर्म ने ऐसी भयंकरता की सृष्टि भी की है जैसी कि किसी दूसरे ने नहीं की थी। धर्म ने ही सर्वापेक्षा अधिक शान्ति और प्रेम का विस्तार किया है और साथ ही धर्म ने सर्वापेक्षा भीषण घृणा और विद्वेष की भी सृष्टि की है। धर्म ने ही मनुष्य के हृदय में भ्रातृभाव की

प्रतिष्ठा की है, साथ ही धर्म ने मनुष्यों में सर्वापेक्षा कठोर शत्रुता और विद्वेष-बीज भी बोया है। धर्म ने ही मनुष्यों और पशुओं तक के लिए सब से अधिक दातव्य चिकित्सालयों की स्थापना की है और साथ ही धर्म ने ही पृथ्वी में सबसे अधिक रक्त की नदियाँ प्रवाहित की है। हम यह भी जानते हैं कि सारे समय भीतर ही भीतर एक चिन्ता का स्रोत बह रहा है; सारे समय ही, विभिन्न धर्म की तुलनामूलक आलोचना में व्यस्त कितने ही तत्वान्वेषी दार्शनिक, इन सब विवदमान और विरुद्धमतावलम्बी धर्म-सम्प्रदायों में शान्ति स्थापित करने की चेष्टा पहले कर चुके हैं और अब भी चेष्टा कर रहे हैं। किसी किसी देश में यह चेष्टा व्यष्टि-भाव से सफल हुई है; परन्तु सारी पृथ्वी की ओर देखने पर मालूम होता है कि समष्टि-भाव से यह चेष्टा विफल ही हुई है।

अति प्राचीन काल से कितने ही धर्म जो हम लोगों के बीच प्रचलित हैं, उनके भीतर यह भाव अच्छी तरह मौजूद है कि सब सम्प्रदाय जीवित रहें; कारण प्रत्येक सम्प्रदाय में एक उद्देश्य एक महान भाव निहित है जो जगत् के कल्याण के लिए आवश्यक है और इस कारण से उसका पोषण करना उचित है। वर्तमान समय में भी इस धारणा ने आधिपत्य जमा लिया है और समय समय पर इसे कार्य में परिणत करने की चेष्टा भी की जाती है। इन सब चेष्टाओं का सब समय आशा-

नुरूप फलदायक होना तो दूर रहा, बड़े खेद की बात तो यह है कि हम और भी अधिक झगड़े और विवाद का सूत्रपात करते जा रहे हैं।

इस समय स्वमताभिमानी विचारों को प्रगट न कर साधारण विचार-बुद्धि की दृष्टि से यदि इस विषय को देखें, तो पहले ही यह ज्ञात होगा कि, पृथ्वी के सब बड़े बड़े धर्मों में एक प्रबल जीवनीशक्ति मौजूद है। कोई शायद यह कहे कि वे इस विषय में कुछ नहीं जानते किन्तु अज्ञता तो एक बहाना नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि बहिर्जगत् मे क्या हो रहा है या क्या नहीं हो रहा है, इसे मै नहीं जानता, इसलिए बहिर्जगत् में जो कुछ भी हो रहा है, वह सब झूठ है तो ऐसे व्यक्ति को क्षमा नहीं दी जा सकती। आप लोगो मे जो समग्र संसार में धर्म-विस्तार करना चाहते हैं वे जानते है कि ससार का एक भी मुख्य धर्म मरा नहीं है, केवल इतना ही नहीं, वरन् उनमें से प्रत्येक धर्म उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। ईसाइयों की संख्यावृद्धि हो रही है, मुसलमानों की संख्या बढ़ रही है, हिन्दू भी संख्या में उन्नति कर रहे हैं और यहूदी भी संख्या में बढ़ते हुए सारे संसार में फैल कर यहुदी-धर्म की सीमा दिनोंदिन बढ़ाते जा रहे हैं।

केवल एक धर्म—एक प्रधान प्राचीन धर्म धीरे-धीरे क्षय होता जा रहा है। वह है पारसियों का जरतस्ट धर्म। मुसलमानो

के फारस-विजय के समय लगभग एक लाख पारसवासियों ने आकर भारतवर्ष में आश्रय ग्रहण किया था और कुछ पुराने लोग पारस में ही रह गये थे। जो पारस में रह गये थे, वे मुसलमानों के लगातार निर्यातन के फल से क्षय होने लगे—इस समय अधिक से अधिक उनकी संख्या दस हजार होगी। भारत में उनकी संख्या लगभग आठ हजार है, परन्तु वे सब बढ़ते नहीं हैं। आरम्भ में ही उनकी एक असुविधा है और वह यह कि वे किसी दूसरे को अपने धर्म में नहीं मिलाते। साथ ही भारत में रहने वाले इन मुट्ठी भर लोगों में भी सहोदरों के अतिरिक्त भाई-बहिनों के विवाह रूपी घोर अनिष्टकर प्रथा प्रचलित रहने से इनकी वृद्धि नहीं होती। इस एकमात्र धर्म को छोड़ सारे धर्म जीवित हैं और वे विस्तारित और पुष्ट हो रहे हैं। हमको स्मरण रखना उचित है कि संसार के सब प्रधान प्रधान धर्म ही बहुत पुराने हैं; उनमें से एक भी वर्तमान काल में गठित नहीं हुआ है और संसार का प्रत्येक धर्म गंगा और यूफ्रेटिस नदियों के मध्यवर्ती भूखण्ड पर उत्पन्न हुआ है। एक भी प्रधान धर्म यूरोप या अमेरिका में पैदा नहीं हुआ—एक भी नहीं। प्रत्येक धर्म ही एशिया-सम्भूत है और वह भी केवल उसी अंश के बीच। आधुनिक वैज्ञानिकों की यदि यह बात सत्य है कि "योग्यतम व्यक्ति व वस्तु ही जीवित रहेंगी" तो वह इसी से प्रमाणित हो जाता है कि ये सब धर्म अब भी जीवित

हैं और कितने ही मनुष्यों के लिए उपकारजनक हैं। वे भविष्यत् में भी इसी कारण से जीवित रहेंगे कि वे बहुत मनुष्यों का उपकार कर रहे है। मुसलमानों को देखो, उन्होंने दक्षिण एशिया के कुछ स्थानों में कैसा विस्तार लाभ किया है और अफ्रीका में आग की तरह फैल गये हैं। बौद्धों ने मध्य एशिया में बराबर विस्तार लाभ किया है। यहूदियों की भाँति हिन्दू भी दूसरे को अपने धर्म में ग्रहण नहीं करते, तथापि धीरे धीरे अन्यान्य जातियाँ हिन्दू धर्म के भीतर चली आ रही हैं और हिन्दुओं के आचार-व्यवहार को ग्रहण कर उनके समश्रेणीभुक्त होती जा रही है। ईसाई धर्म ने कैसा विस्तार लाभ किया है, आप सब जानते हैं; परन्तु मुझे ऐसा मालूम होता है कि फिर भी चेष्टानुरूप फल नहीं हो रहा है। ईसाइयों के धर्म-प्रचार के कार्य मे एक बड़ा भारी दोष रह गया है और पाश्चात्य सम्प्रदाय-मात्र में यह दोष मौजूद है। शक्ति का प्रति सैकड़ा नब्बे अंश कल-पुर्जों में ही व्यय हो जाता है—कारण वहाँ कल-कारखाने बहुत ज्यादा हैं। प्रचार-कार्य तो प्राच्य लोग ही बराबर करते आ रहे है। पाश्चात्य लोग संघबद्ध भाव से कार्य, सामाजिक अनुष्ठान, युद्ध, सज्जा, राज्यशासन इत्यादि अति सुन्दर रूप मे सम्पन्न कर सकते हैं, परन्तु धर्म-प्रचार के क्षेत्र में वे प्राच्य की बराबरी नहीं कर सकते कारण, बराबर वे इसे करते आये हैं,—वे इसमें अभिज्ञ हैं और वे अधिक औजारों का व्यवहार नहीं करते।

अतएव मनुष्य-जाति के वर्तमान इतिहास में यह एक प्रत्यक्ष घटना है कि पूर्वोक्त सब प्रधान प्रधान धर्म ही विद्यमान हैं और वे विस्तारित तथा पुष्ट होते जा रहे हैं। इस घटना का अवश्य कोई अर्थ है; और सर्वज्ञ, परम कारुणिक सृष्टिकर्ता की यदि यही इच्छा होती कि इनमें से केवल एक ही धर्म विद्यमान रहे और शेष सब नष्ट हो जायँ, तो वह बहुत पहले ही पूर्ण हो जाती। अथवा यदि इन सब धर्मों में से केवल एक ही सत्य होता और अन्य सब झूठ, तो वह अब तक सारे पृथ्वी में फैल जाता, परन्तु बात ऐसी नहीं है, उनमें से एक ने भी सारे संसार पर अधिकार नहीं किया है। सारे धर्म किसी एक समय उन्नति और किसी एक समय अवनति की ओर जाते हैं। यह भी विचारने की बात है कि तुम्हारे देश में छः करोड़ मनुष्य हैं; परन्तु उनमें से केवल दो करोड़ दस लाख ही किसी न किसी धर्म के अनुयायी हैं। इसका अर्थ यह है कि सब समय में ही धर्म उन्नति नहीं करता है। गवेषणा करने से सम्भवतः मालूम होगा कि सब देशों में ही धर्म कभी उन्नति और कभी अवनति कर रहा है। उस पर देखा जाता है कि संसार में सम्प्रदायों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। किसी सम्प्रदाय-विशेष का यह कहना यदि सत्य होता, कि सारा सत्य उसी में भरा है और ईश्वर उस निखिल सत्य को उसी के धर्मग्रन्थ में लिख गये हैं—तो फिर संसार में इतने सम्प्रदाय क्यों हैं? पचास वर्ष के भीतर ही भीतर एक ही

पुस्तकविशेष के आधार पर बीसों नये सम्प्रदाय उठ खड़े होते हैं। ईश्वर ने यदि कुछ पुस्तकों में ही निखिल सत्य को निबद्ध किया है, तो उन्होंने हमको उनके शब्दार्थ पर झगड़ा करने के लिए नहीं कहा है; परन्तु घटनायें ऐसी ही ज्ञात हो रही हैं। ऐसा क्यों होता है? यदि ईश्वर सचमुच किसी ग्रन्थ में समस्त सत्य को लिख देते, तब भी कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, कारण कोई उसको समझ नहीं सकता। उदाहरणस्वरूप बाइबिल या ईसाइयों में प्रचलित सम्प्रदाय-समूह की बात लीजिये। प्रत्येक सम्प्रदाय उस एक ही पुस्तक को अपने मतानुसार व्याख्या करता हुआ कह रहा है कि केवल उसीने उसको ठीक तरह से समझा है और बाकी सब भ्रान्त हैं। प्रत्येक धर्म में यही बात है। मुसलमानों और बौद्धों में अनेक सम्प्रदाय हैं, हिन्दुओं में भी सैकड़ों हैं। मैंने जिन-जिन घटनाओं को आपके सम्मुख स्थापित किया है, उनका उद्देश्य यह है कि मैं दिखाना चाहता हूँ, कि धर्म-विषय में जितनी बार सारी मनुष्य—जाति को एक प्रकार की चिन्ता में ले जाने की चेष्टा की गई है, उतनी ही बार वह विफल हुई और आगे भी होगी। यहाँ तक कि वर्तमान काल में भी नये मत-प्रवर्तक यह देख रहे हैं कि अपने अनुयायियों के पास से बीस मील दूर जाते न जाते वे अनुयायी बीसों दल गठन कर लेते हैं। आप भी सब समय ये ही घटनायें देख रहे हैं। बात यह है कि सब लोगों के एक ही प्रकार

का भाव ग्रहण करने से काम नहीं चलता और मैं इसके लिए भगवान को धन्यवाद देता हूँ। मैं किसी भी सम्प्रदाय का विरोधी नहीं हूँ, बल्कि नाना सम्प्रदायों के रहने से मैं सन्तुष्ट हूँ और मेरी विशेष इच्छा है कि सभी की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाय। इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि यदि आप, मैं और यहाँ के उपस्थित सब सज्जन एक ही प्रकार के भाव-राशियों की चिन्ता करें, तब तो हमारे चिन्ता करने का विषय ही नहीं रहेगा। दो या इससे अधिक शक्तियों के संघर्ष होने से गति सम्भव है, यह सब जानते है। उसी प्रकार चिन्ता के घात-प्रतिघात मे ही---चिन्ता के वैचित्र्य मे ही नई चिन्ता का उद्भव होता है। अब यदि हम सब एक ही प्रकार की चिन्ता करते, तो हम मिश्र देश के जादूघर की ममियों (Mummies) की तरह एक दूसरे के मुख की ओर मुँह बाये देखते रहते, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। वेगवती सजीव नदी में ही भँवर रहता है, बन्द या मरे जल में भँवर नहीं होता। जब सब विनष्ट हो जायँगे, तब सम्प्रदाय नहीं रहेंगे; तब स्मशान की पूर्ण शान्ति और साम्य आकर उपस्थित होगा। किन्तु जब तक मनुष्य चिन्ता करेंगे तब तक सम्प्रदाय भी रहेंगे। वैषम्य ही जीवन का चिन्ह है और वह अवश्य ही रहेगा। मैं प्रार्थना करता हूँ कि उनकी संख्या-वृद्धि होते होते संसार में जितने मनुष्य हैं, उतने ही सम्प्रदाय हो जायँ, जिससे धर्मराज्य

में प्रत्येक मनुष्य अपने पथ मे अपनी व्यक्तिगत चिन्ता-प्रणाली के अनुसार चल सके।

किन्तु यह बात पूर्व से ही विद्यमान है। हममें से प्रत्येक अपने भाव से चिन्ता कर रहा है, परन्तु इस स्वाभाविक गति को बराबर धक्का लगा है और अब भी लग रहा है। प्रत्यक्ष रूप से तलवार न ग्रहण करने पर भी अन्य उपायों से उसे ग्रहण किया जाता है। न्यूयार्क के एक श्रेष्ठ प्रचारक क्या कहते हैं, सुनिये—वे प्रचार कर रहे है कि "फिलिपाइन-वासियों को युद्ध से जय करना होगा, कारण उनको ईसाई-धर्म की शिक्षा देने का यही एकमात्र उपाय है।" वे पहले से ही कैथलिक-सम्प्रदाय-भुक्त हो गये हैं, परन्तु वे उनको प्रेसबिटेरियन बनाना चाहते है और इसके लिए वे इस रक्तपातजनित घोर पापराशि को अपने स्वजाति के कन्धों पर रखने के लिए उद्यत हुए हैं।—कैसी भयानक बात है! उस पर भी यह, देश के एक सर्वापेक्षा श्रेष्ठ प्रचारक और श्रेष्ठ विज्ञ व्यक्ति हैं। जब इस तरह का एक मनुष्य सबके सामने खड़ा होकर ऐसे कदर्य प्रलाप-वाक्य कहने में लज्जा नहीं करता, तब संसार की बात एक बार विचारिये, विशेष कर जब सुननेवाले उसको उत्साहित कर रहे है। क्या यही सभ्यता है? यह मनुष्यभोजी व्याघ्र और असभ्य जंगली जाति की चिरभ्यस्त रक्त-पिपासा के सिवाय और कुछ नहीं है, केवल नये नाम और नये अवस्थाचक्र के

भीतर से प्रकाशित हो रहा है। सिवाय इसके और क्या हो सकता है? वर्तमान काल में यदि घटना इस प्रकार हो, तब विचार देखिये, जब प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को टुकड़े-टुकड़े काट कर फेंक देने की चेष्टा करता था, उस प्राचीन काल से संसार को किस भयानक यन्त्रणा का सामना करना पड़ा था। इतिहास इसका साक्षी है।

हमारी शार्दूल-सुलभ वृत्तियाँ अभी केवल सोई हैं—एकदम मरी नहीं हैं। सुयोग उपस्थित होने के साथ ही वे जागकर पहले की तरह हिंस्रभाव से आक्रमण करती हैं। जड़ पदार्थों के लिए तलवार की अपेक्षा भी भीषणतर अस्त्र-शस्त्र मौजूद हैं। वे हैं—अवज्ञा, सामाजिक घृणा और समाज से बहिष्करण; जो ठीक हमारी तरह चिन्ता नहीं करते, उन्हीं पर इन सब भीषण अस्त्रों की वर्षा होती है। अब किसलिए वे सब हमारी ही तरह चिन्ता करेंगे? मैं तो इसका कोई कारण नहीं देखता। यदि मैं विचारशील हूँ तो मुझे इसमें आनन्दित होना उचित है कि सब मेरे भाव से भावित नहीं हैं। मैं प्रेत-भूमि सदृश देश में नहीं रहना चाहता; मैं मानव-जगत् में रहना चाहता हूँ—मनुष्यों में रहकर मनुष्य होना चाहता हूँ। चिन्ताशील व्यक्तिमात्र में ही मतभेद रहेगा; कारण पार्थक्य ही चिन्ता का प्रथम लक्षण है। यदि मैं चिन्ता-शील हूँ तो मुझे चिन्ताशील लोगों के साथ ही रहने की इच्छा होनी चाहिए—जहाँ मत का पार्थक्य वर्तमान रहे।

उसके बाद प्रश्न यह उठ सकता है कि ये सब विभिन्न धर्माक्रान्त वस्तुएँ किस प्रकार सत्य हो सकती हैं ? एक चीज़ सत्य होने पर उसका विपरीत झूठ होगा। एक ही समय दो विपरीत वस्तुएँ किस प्रकार सत्य हो सकती हैं ? मैं इसी प्रश्न का उत्तर देना चाहता हूँ। उसके पहले मैं एक बात आपसे पूछता हूँ कि पृथ्वी के धर्म क्या सचमुच एकान्त-विरोधी हैं ? जिन सब बाह्य आचारों के आचरण में जो बड़ी बड़ी चिन्तायें प्रकाश पाती हैं, मैं उनकी बात नहीं कहता, नाना धर्म में व्यवहृत विभिन्न मन्दिर, भाषा, क्रियाकाण्ड, शास्त्र-प्रभृति की बात नहीं कहता, मैं प्रत्येक धर्म के भीतर की प्राणवस्तु की बात कहता हूँ। प्रत्येक धर्म के पीछे एक एक प्राणवस्तु या आत्मा है और एक धर्म की आत्मा अन्य धर्म की आत्मा से पृथक् हो सकती है; परन्तु इसलिये क्या वे एकान्त-विरोधी हैं ? क्या वे परस्पर का खण्डन करती हैं या एक दूसरे की पूर्णता का सम्पादन करती हैं ? यही प्रश्न है ? मैं जब नितान्त बालक था, तभी से ही इस प्रश्न का विचार मैंने आरम्भ किया है और सारे जीवन भर इसकी आलोचना करता आ रहा हूँ। शायद मेरे सिद्धान्त से आपका कोई उपकार हो, इसी विचार से मैं उसे आपके निकट व्यक्त करता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे परस्पर विरोधी नहीं हैं; वरन् परस्पर पूर्णता-साधक हैं। प्रत्येक धर्म मानो महान् सार्वभौमिक सत्य के एक एक अंश को मूर्तिमंत करके

प्रस्फुटित करने के लिए अपनी समस्त शक्ति नियोजित कर रहा है। इसलिए यह योगदान का विषय है—वर्जन का नहीं, यही समझना होगा। एक एक बड़े भाव को लेकर सम्प्रदाय पर सम्प्रदाय गठित हो रहा है; अब आदर्श का सम्मेलन करना होगा। इसी प्रकार मानव-जाति उन्नति की ओर अग्रसर होती रहती है। मनुष्य कभी भ्रम मे सत्य में उपनीत नहीं होता है, परन्तु सत्य से ही सत्य में गमन करता है; निम्नतर सत्य मे उच्चतर सत्य पर आरूढ़ होता है—परन्तु भ्रम से सत्य में नहीं। पुत्र शायद पिता की अपेक्षा अधिक गुणवान् हुआ है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पिता कुछ भी नहीं है। पुत्र के मध्य पिता तो हैं ही, किन्तु और भी कुछ है। आपका वर्तमान ज्ञान यदि आपकी बाल्यावस्था के ज्ञान से अधिक हो, तो आप अभी अपनी बाल्यावस्था को घृणा की दृष्टि से देखेंगे? आप क्या अपनी अतीतावस्था की बात को, वह कुछ नहीं है कह कर उड़ा देंगे? क्या आप समझते नहीं हैं कि आपकी वर्तमान अवस्था उस बाल्यकाल का ही ज्ञान है?—केवल कुछ और अभिज्ञता द्वारा पुष्ट है।

अब यह भी सब जानते हैं कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टि से देखने पर प्रायः विरुद्ध सिद्धान्त पर उपनीत हुआ जा सकता है, किन्तु सकल सिद्धान्त एक ही वस्तु को लक्ष्य करते हैं। मान लीजिये एक व्यक्ति सूर्य की ओर जा रहा है और

वह जैसे जैसे अग्रसर होता जाता है, उतने ही विभिन्न स्थानों मे सूर्य का फोटोग्राफ लेता जाता है। जब वह व्यक्ति लौट आयेगा, तब उसके पास सूर्य के बहुत से फोटोग्राफ होंगे। यदि वह उनको हमारे सामने रखे, तो हम देखेंगे कि उनमें से कोई भी दो फोटो एक तरह के नहीं है, परन्तु यह बात कौन अस्वीकार कर सकेगा कि ये सब फोटो एक ही सूर्य के हैं—केवल भिन्न भिन्न ओर से लिये गये है ? चार कोने से इसी गिर्जे के चार चित्र लेकर देखिये वे कितने पृथक् मालूम होंगे, तथापि वे इसी एक गिर्जे की प्रतिकृति हैं। इसी प्रकार हम एक ही सत्य को अपने जन्म, शिक्षा और चारों ओर की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में देख रहे हैं। हम सत्य को ही देख रहे है, परन्तु इन सारी अवस्थाओं के भीतर से उस सत्य का जितना दर्शन पाना सम्भव है, उतना ही हम पा रहे हैं—उसको अपने हृदय द्वारा रंजित कर रहे हैं, अपनी बुद्धि द्वारा समझ रहे हैं और अपने मन द्वारा धारण कर रहे हैं। हमारे साथ सत्य का जितना सम्बन्ध है, हम उसका जितना अंश ग्रहण करने में समर्थ हैं,—केवल उतना ही ग्रहण कर रहे है। इसीलिए मनुष्य मनुष्य में भेद है, यहाँ तक कि कभी सम्पूर्ण विरुद्ध मत की भी सृष्टि होती है; तथापि सभी उस सार्वजनीन सत्य के अन्तर्निहित है।

अतएव मेरी धारणा यह है कि समस्त धर्म ईश्वर की अनन्त शक्ति का केवल विभिन्न प्रकाश है और वे मनुष्यों का कल्याण

साधन कर रहे है,—उनमें से एक भी नहीं मरता, एक को भी विनष्ट नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार किसी प्राकृतिक शक्ति को नष्ट नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इन आध्यात्मिक शक्तियों में से किसी एक का भी विनाश नहीं किया जा सकता। आप देखेंगे, प्रत्येक धर्म जीवित है। समय के प्रभाव से वे उन्नति या अवनति की ओर अग्रसर हो सकते हैं। किसी समय या तो इनके ठाटबाट का ह्रास हो सकता है, या कभी इनके ठाटबाट का दौर दौरा हो सकता है; परन्तु उनकी आत्मा या प्राणवस्तु उनके पीछे मौजूद है, वह कभी विनष्ट नहीं हो सकती। प्रत्येक धर्म का जो चरम आदर्श है, वह कभी विनष्ट नहीं होता, इसलिए प्रत्येक धर्म ही ज्ञातभाव से अग्रसर होता जा रहा है।

और वह सार्वभौमिक धर्म जिसके सम्बन्ध में सब देश के दार्शनिकों ने और अन्यान्य व्यक्तियों ने कितने ही प्रकार की कल्पनाएँ की है, वह पूर्व से ही विद्यमान है। वह यही है। जिस प्रकार, सार्वजनीन भ्रातृभाव पहले से ही है, उसी प्रकार सार्वभौमिक धर्म भी है। आप लोगों में से जिन्होंने नाना देशों में पर्यटन किया है, किसने प्रत्येक जाति में भ्राता और भगिनी को नहीं देखा? मैंने पृथ्वी में सर्वत्र ही उनको देखा है। भ्रातृभाव पूर्व से ही विद्यमान है। केवल कुछ ऐसे लोग हैं, जो इसको न देखकर भ्रातृभाव के नये नये सम्प्रदायों के

लिए चिल्ला चिल्ला कर उसको विशृंखल कर देते हैं। सार्वभौमिक धर्म भी वर्तमान है। पुरोहिती कर्म और दूसरे लोग जिन्होंने विभिन्न धर्म-प्रचार का भार इच्छापूर्वक अपने कन्धों पर लिया है, यदि वे कृपापूर्वक कुछ देर के लिए प्रचार-कार्य बन्द कर दें, तब हमको ज्ञात हो जाएगा कि सार्वभौमिक धर्म पहले से ही वर्तमान है। वे बराबर ही उसके प्रकाश में बाधा डालते आ रहे हैं—कारण उसमें उनका स्वार्थ है। आप देख रहे हैं कि सब देश के पुरोहित ही कट्टर हैं। इसका कारण क्या है? बहुत कम पुरोहित ऐसे हैं, जो नेता बनकर जनसाधारण को मार्ग दिखाते हैं; उनमें से अधिकांश ही जनसाधारण के इशारों पर नाचते हैं और वे जनता के नौकर या गुलाम होते हैं। यदि कोई कहे कि यह शुष्क है, तो वे भी बोलेंगे, हाँ शुष्क है। यदि कोई कहे, यह काला है तो वे भी कहेंगे, हाँ काला है। यदि जनसाधारण उन्नत हों, तो पुरोहित भी उन्नत होने को बाध्य हैं। वे पिछड़ नहीं सकते। इसलिए पुरोहितों को गाली देने के पहले (पुरोहितों को गाली देना भी आजकल प्रथा हो गई है) हमें अपने को ही गाली देना उचित है। आप अपने योग्य ही व्यवहार पा रहे हैं। यदि कोई पुरोहित नये नये भावों से आपको उन्नति के पथ पर अग्रसर करना चाहे, तो उसकी दशा क्या होगी? उसके बालबच्चों को शायद भूखों मरना होगा और उनको फटे वस्त्र पहन कर रहना होगा। आप जिन सांसा-

रिक नियमों को मानकर चलते हैं, वे भी उन्हें ही मान कर चलते हैं। वे कहते हैं—यदि आप अग्रसर होवें, तो हम भी होंगे। अवश्य ऐसे भी दो चार उन्नत और असाधारण लोग हैं जो लोकमत की परवा नहीं करते। वे सत्य की ओर दृष्टि रखते हुए एकमात्र सत्य को ही अपना लेते हैं। सत्य उनके पास है—मानो उसने उन पर अधिकार कर लिया है और उनको अग्रसर हुए बिना दूसरा उपाय नहीं है। वे कभी पीछे नहीं देखते, फल यह होता है कि उनको लोग नहीं मिलते। भगवान ही केवल उनके सहायक हैं, वे ही उनके पथप्रदर्शक ज्योति हैं—और वे इस ज्योति का ही अनुसरण करते जा रहे हैं।

इस देश (अमेरिका) में एक मरमन (Mormon) से मेरी मुलाकात हुई थी, उन्होंने मुझे अपने मत में ले जाने के लिए अनेक चेष्टायें की थीं। मैंने कहा था कि "आपके मत के ऊपर मेरी बड़ी श्रद्धा है, किन्तु कई विषयों में हम लोगों में एकमत नहीं है। मैं तो संन्यासी हूँ और आप बहुविवाह के पक्षपाती हैं; भला यह तो बताइये, आप अपने मत के प्रचार के लिए भारतवर्ष में क्यों नहीं जाते?" इन बातों से विस्मित होकर उन्होंने कहा, "यह क्या बात है, आप तो बहुविवाह के पक्षपाती हैं नहीं और मैं हूँ। तिस पर भी आप मुझे अपने देश में जाने के लिए कहते हैं?" मैंने उत्तर दिया,

"हाँ, मेरे देशवासी हर प्रकार के धर्म को सुनते हैं, चाहे वह किसी देश से क्यों न आए, मेरी इच्छा है कि आप भारतवर्ष में जाइयें; कारण, पहले तो हम लोग अनेक सम्प्रदायों की उपकारिता में विश्वास करते हैं। दूसरे, कितने ही लोग ऐसे हैं, जो वर्तमान सम्प्रदायों में सन्तुष्ट नहीं हैं, इसीलिए वे धर्म किसी धारा के अनुयायी नहीं है, सम्भव है उनमें से कितने ही आपके धर्म को ग्रहण कर लें। सम्प्रदायों की संख्या जितनी अधिक होगी, लोगों को धर्म लाभ करने की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। जिस होटल में हर प्रकार का खाद्य पदार्थ मिलता है, वहीं सब लोगों की क्षुधा-तृप्ति की सम्भावना होती है। इसलिए मेरी इच्छा है, कि सब देशों में सम्प्रदायों की संख्या बढ़े, ऐसा होने से लोगों को धार्मिक जीवन लाभ करने की सुविधा होगी। आप यह न सोचियेगा कि लोग धर्म नहीं चाहते, मैं इस पर विश्वास नहीं करता। वे लोग जो कुछ चाहते हैं, धर्मप्रचार ठीक वह चीज़ उन्हें नहीं दे सकते। जो लोग जड़वादी, नास्तिक या अधार्मिक सिद्ध हो गये हैं, उन्हें भी यदि कोई ऐसा मनुष्य मिले, जो ठीक उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें आदर्श दिखला सके, तो वे लोग भी समाज में सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक-अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति हो सकेंगे। हम लोगों को बराबर जिस प्रकार खाने का अभ्यास है, हम उसी प्रकार खा सकेंगे। देखिये, हम लोग हिन्दू हैं, हम लोग हाथ से खाने

हैं। आप लोगों की अपेक्षा हम लोगों की अंगुलियाँ अधिक चलती हैं; आप लोग ठीक इस तरह से इच्छानुसार अंगुली को हिला नहीं सकते। केवल भोजन का उदाहरण देने से ही पर्याप्त नहीं। आप लोगों को उसे अपने भावों में भी ग्रहण करना पड़ेगा। इसी प्रकार केवल थोड़े से आध्यात्मिक भावों को देने ही से काम नहीं चल सकता। उन्हें इस प्रकार देना होगा जिससे आप उन्हें ग्रहण कर सकें। वे ही यदि आपकी मातृ-भाषा—प्राणों से भी प्रिय भाषा—में व्यक्त किये जायँ, तो आप उनसे प्रसन्न होंगे। हमारी मातृभाषा में बात करने वाले यदि कोई सज्जन आकर, हमें तत्वोपदेश दें, तो उसे हम फौरन समझ लेंगे और बहुत दिनों तक याद रख सकेंगे—यह बात बिल्कुल ठीक है।

इससे देखा जाता है, कितने विभिन्न स्तर और प्रकृति के मानव-मन विद्यमान हैं—और धर्मों के ऊपर भी एक बड़ा भारी दायित्वभार है। सम्भव है कोई सज्जन दो-तीन मतों को जाहिर कर यह कह बैठे कि उन्हीं का धर्म सब लोगों के उपयोगी है। वे एक छोटासा पिंजड़ा हाथ में लिये हुए, भगवान के इस जगत्‌रूपी चिड़ियाखाने में आकर कहने लगे—"ईश्वर, हाथी और सबको इस पिंजड़े के भीतर प्रवेश करना होगा। प्रयोजन होने पर हाथी के टुकड़े टुकड़े काटकर इसके भीतर घुसाना होगा।" और शायद ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जिनमें कुछ अच्छे-अच्छे भाव वर्तमान

हैं। वे कहते हैं—"सब हमारे सम्प्रदाय में सम्मिलित हों।" "परन्तु वहां सब के लिए तो स्थान ही नहीं है!" "कुछ परवाह नहीं, उनको काट-छाँटकर जैसे हो घुसा लो।" "और यदि वे नहीं आयेंगे?" "तो वे अवश्य ही नरकगामी होंगे।"

मैंने ऐसा कोई प्रचारक या सम्प्रदाय नहीं देखा, जो ज़रा स्थिर होकर विचार करे कि "लोग जो हमारी बात नहीं सुनते, इसका कारण क्या है?" यह न सोचकर वे केवल लोगों को अभिशाप देते हैं—और कहते हैं "लोग बड़े पाजी हैं।" वे एक बार भी यह नहीं विचारते कि "लोग क्यों हमारी बात पर कान नहीं देते? क्यों मैं उन्हें धर्म के सत्य को बताने में समर्थ नहीं होता? क्यों मैं उनकी मातृभाषा में बातचीत नहीं करता? क्यों मैं उनके ज्ञान-चक्षु उन्मीलन करने में समर्थ नहीं होता? असल में उन्हीं अच्छी तरह जानने की आवश्यकता है, और जब वे देखते हैं कि लोग उनकी बात पर कान नहीं देते तब यदि किसी को गाली देने की भी आवश्यकता हो, तो उन्हें अपने को ही पहले गाली देना चाहिये। किन्तु सदैव लोगों का यही दोष है। वे कभी अपने सम्प्रदाय को बड़ा कर सब लोगों के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा नहीं करते।

इसलिए इतनी संकीर्णता क्यों है, इसका कारण स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है—अंश अपने को पूर्ण कहने का सर्वदा दावा करता है। क्षुद्र, ससीम वस्तु अपने को असीम कहकर सर्वदा

जाहिर कर रही है। क्षुद्र क्षुद्र सम्प्रदायों की बात एक बार विचार देखिये—केवल कुछ शताब्दियों से ही भ्रान्त मानव-मस्तिष्क से उनका जन्म हुआ है, और उस पर वे स्पर्धा कर रहे हैं कि वे भगवान के सारे अनन्त सत्य को जान गये हैं। मनुष्य कितने आत्ममग्न हो गये हैं, वह इसी से मालूम हो जाता है। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि ऐसे दावे सर्वदा ही व्यर्थ हुए हैं और प्रभु की कृपा से वे सर्वदा ही व्यर्थ होंगे। विशेष कर मुसलमान लोग इस विषय में सबसे ऊपर चढ़ गये थे। उन्होंने एक-एक पद अग्रसर होने के लिए तलवार की सहायता ली थी—एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार; "या तो मुसलमान धर्म ग्रहण करो, नहीं तो मौत को अपनाओ—दूसरा उपाय नहीं है।" इतिहास के सभी पाठक जानते हैं कि उनकी क्या भयानक उन्नति हुई थी—छः सौ वर्ष तक कोई उनका गतिरोध नहीं कर सका। परन्तु फिर ऐसा समय आया कि जब उनको चीत्कार कर रोना पड़ा था। दूसरा कोई धर्म भी यदि ऐसा ही करे, तो उसकी भी यही दशा होगी! हम इस प्रकार केवल शिशु हैं! हम मानव प्रकृति की बात सर्वदा ही भूल जाते हैं। अपने जीवन-प्रभात में हम सोचते हैं कि हमारा अदृष्ट एक असाधारण भाव से गठित हो जाएगा और अपने इस विश्वास को हम किसी तरह भी दूर नहीं कर सकते, परन्तु जीवन-संध्या में हमारी चिन्ता अन्यरूप हो जाती है। धर्म के

सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। प्रथमावस्था में जब वे ज़रा विस्तृत होते हैं, तब वे सोचते हैं कि कुछ वर्ष के अन्दर ही वे समस्त मानव-मन को बदल देंगे। बलपूर्वक अपने धर्म को दूसरों को ग्रहण कराने के लिए वे हजारों लोगों का प्राणवध करते रहते हैं। बाद को जब वे अकृतकार्य होते हैं, तब उनकी आँखें खुलने लगती हैं। देखा जाता है कि ये जिस उद्देश्य से कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुये थे, वह व्यर्थ हुआ है और यही संसार के लिए अशेष कल्याणजनक है।

एक बार विचार देखिये कि इन कट्टर सम्प्रदाय-समूह में से यदि कोई भी सारे संसार में फैल गया होता, तो मनुष्यों की आज क्या दशा होती! प्रभु को धन्यवाद है कि वे सफल नहीं हुए। तथापि प्रत्येक सम्प्रदाय ही एक एक महान् सत्य को दिखा रहा है, प्रत्येक धर्म ही किसी एक विशेष सार वस्तु को—जो उसका प्राण या आत्मा-स्वरूप है—पकड़े हुए हैं। मुझे एक पुराना किस्सा याद आ रहा है—कुछ राक्षस थे, वे मनुष्यों का वध करते थे और नाना प्रकार का अनिष्ट करते थे; परन्तु उनको कोई भी नहीं मार सकता था। अन्त में एक आदमी को पता लगा कि उनका प्राण कुछ पक्षियों के अन्दर है और जब तक वे पक्षी निरापद रहेंगे, तब तक उन्हें कोई भी नहीं मार सकेगा। हम सब लोगों का भी ठीक ऐसा ही एक एक प्राण-पक्षी है। उसी में हमारी प्राणवस्तु है। हम सबका भी एक एक आदर्श—एक एक

उद्देश्य है, जिसे कार्य में परिणत करना होगा। प्रत्येक मनुष्य इस प्रकार एक एक आदर्श—एक एक उद्देश्य—का प्रतिमूर्ति-स्वरूप है। और चाहे कुछ भी नष्ट क्यों न हो जाए, जब तक वह आदर्श ठीक है जब तक वह उद्देश्य अटूट है, तब तक किसी तरह से भी आपका विनाश नहीं हो सकता। सम्पदा आ सकती है या जा सकती है, विपद् पहाड़ जैसी बड़ी हो सकती है; परन्तु आप यदि वह लक्ष्य ठीक रखें, तो कुछ भी आपका विनाश नहीं कर सकता। आप वृद्ध हो सकते हैं, यहाँ तक क्षि शतायु हो सकते हैं, परन्तु यदि वह उद्देश्य आपके मन में उज्वल और सतेज रहे, तो कौन आपका वध करने में समर्थ हो सकता है? किन्तु जब वह आदर्श खो जायगा, वह उद्देश्य विकृत हो जाएगा, तब फिर आपकी रक्षा नहीं हो सकती पृथ्वी की समस्त सम्पदा और सारी शक्ति मिलकर भी आपकी रक्षा नहीं कर सकती। और जाति क्या वस्तु है—व्यष्टि की समष्टि के सिवाय और तो कुछ नहीं? इसीलिए प्रत्येक जाति का एक अपना उद्देश्य है—जो विभिन्न जातिसमूह के सुश्रृंखल अवस्थिति के लिए विशेष आवश्यक है, और जब तक उक्त जाति उस आदर्श को पकड़े रहेगी, तब तक किसी तरह भी उसका विनाश नहीं हो सकता। किन्तु यदि वह जाति उक्त आदर्श का परित्याग कर किसी दूसरे लक्ष्य की ओर दौड़े, तो उसका जीवन निश्चय ही समाप्त हुआ समझना चाहिए और वह थोड़े ही दिनों में अन्तर्हित हो जाएगी।

धर्म के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। सब पुराने धर्मों के आज भी जीवित रहने से प्रमाणित होता है कि उन्होंने निश्चय ही उस उद्देश्य को अटूट रखा है। उनके समुदय भ्रान्त होने पर भी, उनमें समुदय विघ्न-बाधा होने पर भी, उनमें समुदय विवाद-विसंवाद होने पर भी, उनके ऊपर तरह तरह के अनुष्ठान और निर्दिष्ट प्रणाली की आवर्जना-स्तूप के संचित होने पर भी उनमें से प्रत्येक का हृत्पिण्ड ठीक है—वह जीवित हृत्पिण्ड की तरह स्पन्दित हो रहा है—धकधक कर रहा है। जो महान् उद्देश्य लेकर वे आये हैं, उनमें से एक को भी वे नहीं भूले। उस उद्देश्य के सम्बन्ध में आलोचना करना भी क्या सुखप्रद है? दृष्टान्तस्वरूप मुसलमान धर्म की बात लीजिये। ईसाई धर्मावलम्बी मुसलमान धर्म से जितनी अधिक घृणा करते हैं उतनी और किसी से नहीं। वे सोचते हैं, इस प्रकार निकृष्ट धर्म का कभी भी अभ्युदय नहीं हुआ। किन्तु देखिये, जैसे ही एक आदमी ने मुसलमान धर्म ग्रहण किया, सारे मुसलमानों ने उसकी पिछली बात को छोड़ उसे भाई कहकर छाती से लगा लिया। ऐसा कोई भी धर्म नहीं करता। यदि एक रेड इण्डियन मुसलमान हो जाय, तो तुरकी के सुलतान भी उसके साथ भोजन करने में आपत्ति न करेंगे और यदि वह शिक्षित और बुद्धिमान हो तो राज-काज में भी कोई पद प्राप्त कर सकता है। परन्तु इस देश में मैंने एक भी ऐसा गिर्जा नहीं देखा जहाँ गोरे और काले पास पास घुटने टेक

कर प्रार्थना कर सकें। इस बात को विचार देखिये कि इस्लाम धर्म अपने सब अनुयायियों को समभाव से देखता है। इसी से आप देखते हैं कि मुसलमान धर्म की यह विशेषता और श्रेष्ठत्व है। कुरान में बहुत जगह जीवन के विषय-सुख की बातें देखी जाती हैं; उसमें क्षति नहीं है। मुसलमान धर्म संसार में जिन बातों का प्रचार करने आया है वह है यही यथार्थ भ्रातृभाव—जो मुसलमान धर्मावलम्बी एक दूसरे के प्रति धारण करते हैं।

मुसलमान धर्म का वही सारतत्व और स्वर्ग है। जीवन तथा दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में जो सब धारणायें हैं, वे मुसलमान धर्म की अपनी नहीं हैं। वे दूसरे धर्मों से ली गई हैं।

हिन्दू धर्म में एक जातीय भाव देखने को मिलेगा—वह है आध्यात्मिकता। और किसी भी धर्म में—संसार के और किसी धर्म-पुस्तक-समूह में ईश्वर की संज्ञा निर्देश करने में इतना अधिक योग दिया गया हो, ऐसा देखने को नहीं मिलता। उन्होंने ऐसे भावों से आत्मा की संज्ञा निर्देश करने की चेष्टा की है कि कोई पार्थिव-संस्पर्श इसको कलुषित नहीं कर सकता। आत्मा अपार्थिव वस्तु है और इस अर्थ से उसमें कभी मानवीय भाव आरोपित नहीं किया जा सकता। उसी एकत्व की धारणा—सर्वव्यापी ईश्वर की उपलब्धि सर्वत्र ही प्रचारित हुई है। वे स्वर्ग में वास करते हैं—आदि उक्तियाँ हिन्दुओं के निकट प्रलापोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं—वह मनुष्य द्वारा भगवान की मनुष्योचित

गुणावली का आरोप-मात्र है। यदि स्वर्ग कोई वस्तु है, तो वह अभी और यहीं मौजूद है। अनन्तकाल का एक मुहूर्त जैसा है, दूसरा कोई अन्य मुहूर्त भी वैसा ही है। जो ईश्वरविश्वासी है, वह अभी भी उनका दर्शन पा सकता है। हमारे मत से, कुछ उपलब्धि होने पर ही धर्म का आरम्भ होता है—कुछ मतों में विश्वास करना या उसे युक्तियुक्त कहकर स्वीकार करना अथवा प्रकाश्य भाव से उसे अपना धर्ममत व्यक्त करना—इनमें से कोई भी धर्म नहीं है। आप कह रहे हैं ईश्वर हैं—"क्या आपने उन्हें देखा है?" यदि कहें "नहीं" तब आपको उस पर विश्वास करने का क्या अधिकार है? और यदि आपको ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह हो, तो उन्हें देखने के लिए प्राणपन से कोशिश क्यों नहीं करते? आप संसार त्याग कर इस उद्देश्य-सिद्धि के लिए सारा जीवन अतिवाहित क्यों नहीं करते? त्याग और आध्यात्मिकता—ये दोनों ही भारत के महान् आदर्श हैं—और इनको जकड़े रहने के कारण ही उसकी इतनी भूलभ्रान्ति होने पर भी कुछ विशेष आता जाता नहीं।

ईसाइयों का प्रचारित मूल-भाव भी यही है—"सतर्क रहो, प्रार्थना करो—कारण, भगवान का राज्य अति निकट है।" अर्थात् चित्तशुद्धि करके प्रस्तुत हो। और यह भाव कभी भी नष्ट नहीं हुआ। आप लोगों को शायद स्मरण है कि ईसाई लोग अज्ञानावस्था से ही, अति कुसंस्कारग्रस्त ईसाई देशों में भी औरों की सहायता

करना, चिकित्सालय तैयार करना आदि सत् कार्यों द्वारा अपने को पवित्र कर ईश्वर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जितने दिन तक वे इस लक्ष्य पर स्थिर रहेंगे, उतने दिन तक उनका धर्म जीवित रहेगा।

हाल ही में मेरे मन में एक आदर्श चित्र जाग उठा है। शायद यह केवल स्वप्न हो। मालूम नहीं कभी संसार में यह कार्य में परिणत होगा या नहीं। कठोर संसार में रहकर मरने की अपेक्षा कभी कभी स्वप्न देखना भी अच्छा है। बड़े बड़े सत्य, ये यदि स्वप्न हों, तो भी अच्छे हैं—निकृष्ट संसार की अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं। अतएव एक स्वप्न भी देखना अच्छा है।

आप जानते हैं मन के कई स्तर है। आप भी शायद सांसारिक विषयों के स्वाभाविक ज्ञान में विश्वास करने वाले एक युक्तिवादी हैं, आप आचार, अनुष्ठानों की परवा नहीं करते। आप युक्ति द्वारा परीक्षित ऐसी बातों पर विश्वास करना चाहते हैं, जिनमें कल्पना का ज़रा भी अवसर नहीं है। इधर प्यूरिटन और मुसलमान लोग हैं—ये अपने उपासनास्थल में चित्र या मूर्ति नहीं रखने देंगे। अच्छी बात है। और एक तरह के लोग हैं, वे ज़रा ज्यादा शिल्पप्रिय है,—ईश्वरोपासना करने में भी उन्हें शिल्पकला का प्रयोजन होता है, वे उसके भीतर तरह-तरह की सरल रेखाएँ, वक्र रेखाएँ, वर्ण और रूप इत्यादि के सौन्दर्य का प्रवेश कराना चाहते हैं—उनको पुष्प

धूप, दीप इत्यादि पूजा के सर्व प्रकार के बाह्य उपकरणों का प्रयोजन होता है। आप ईश्वर को जिस प्रकार युक्तिविचार के द्वारा समझने में समर्थ होते हैं, वे भी उसी प्रकार उनको उन सब मूर्तियों के भीतर समझने में समर्थ होते हैं। एक तरह के लोग और हैं, प्रेमिक—उनका प्राण भगवान के लिए व्याकुल है। भगवान की पूजा और स्तव-स्तुति को छोड़ उनमें और कोई भाव नहीं है। उसके बाद हैं ज्ञानी—वे इन सब के बाहर रहकर उनका उपहास करते हैं और मन में सोचते हैं कि ये कैसे मूर्ख हैं—ईश्वर की क्या क्षुद्र धारणाएँ करते हैं!"

वे एक दूसरे का उपहास कर सकते हैं, परन्तु इस संसार में सबके लिए एक स्थान है। इस सब विभिन्न मनों के लिए विभिन्न साधनाओं की आवश्यकता है। आदर्श धर्म कहकर यदि कोई बात हो, तो उसे उदार और विस्तृत होना उचित है जिससे वह इन विभिन्न मनों के उपयोगी खाद्य जुटा सके। उसे ज्ञानी को दार्शनिक विचारों की दृढ़ भित्ति, उपासक को भक्त-हृदय, अनुष्ठानिक को उच्चतम प्रतीकोपासनालभ्य समुदय भाव और कवि को जितना हो सके हृदय का उच्छ्वास और अन्यान्य प्रकृति-सम्पन्न व्यक्तियों को अन्यान्य भाव जुटाने के लिए उपयोगी होना पड़ेगा। इस प्रकार उदार धर्म की सृष्टि करने के लिए, हम लोगों को धर्मसमूह के अभ्युदय-काल में लौट जाना होगा, और उन सब को सत्य कहकर ग्रहण करना होगा।

अतएव ग्रहण ( Acceptance ) ही हमारा मूलमंत्र होना चाहिये—वर्जन नहीं। केवल परधर्म-सहिष्णुता ( Toleration ) नहीं—वह अनेक समय नास्तिकता का नामान्तर मात्र है इसलिए मैं उस पर विश्वास नहीं करता। मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ। मैं क्यों परधर्मसहिष्णु होने लगा? परधर्मसहिष्णु कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं कृपापूर्वक उसे बचाये हूँ। तुम जैसा या मुझ जैसा कोई आदमी किसी को कृपापूर्वक बचा सकता है, यह समझना क्या भगवान के प्रति दोषारोपण करना नहीं है? अतीत के धर्मसम्प्रदाय-समूह को सत्य कहकर ग्रहण करके मैं उन सबके साथ ही आराधना करूँगा। प्रत्येक सम्प्रदाय जिस भाव से ईश्वर की आराधना करता है मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ही ठीक उसी भाव से आराधना करूँगा। मैं मुसलमानों के साथ मसजिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिर्जे में जाकर क्रूसविद्ध ईसा के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेशकर बुद्ध और संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर हिन्दुओं के पास बैठ ध्यान में निमग्न हो उनकी भाँति सब के हृदय को उद्भासित करनेवाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा।

केवल इतना ही नहीं, जो पीछे आयेंगे उनके लिए भी हम हृदय उन्मुक्त रखेंगे। क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गयी?—अथवा अभी भी वह क्रमशः प्रकाशित हो रही है? संसार की यह आध्यात्मिक अनुभूति एक अद्भुत पुस्तक है। बाइबिल, वेद, कुरान

तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थसमूह मानो उसी पुस्तक का एक एक पृष्ठ हैं और उसके असंख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं। मेरा हृदय उन सबके लिए उन्मुक्त रहेगा। हम वर्तमान में तो हैं ही, किन्तु अनन्त भविष्यत् की भावराशि ग्रहण करने के लिए भी हमको प्रस्तुत रहना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्यत् में जो उपस्थित होंगे, उन्हें ग्रहण करने के लिए, हृदय के सब दरवाजों को उन्मुक्त रखेंगे। अतीत के ऋषिकुल को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो जो भविष्यत् में आयेंगे, उन सब को प्रणाम।

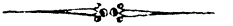

# हमारे अन्य प्रकाशन

## हिन्दी विभाग

१–३. श्रीरामकृष्णवचनामृत–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४–५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)–दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द–चरित–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. परमार्थ–प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई) कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥) कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

## स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. विवेकानन्दजी के संग में–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५।)

९. भारत में विवेकानन्द ५)
१०. ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)
११. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
१२. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
१३. देववाणी (प्र. सं.) २=)
१४. धर्मविज्ञान (प्र. सं.) १॥=)
१५. कर्मयोग (द्वि. सं.) १॥=)
१६. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
१७. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
१८. भक्तियोग (तृ. सं.) १।=)
१९. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) १।)
२०. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२१. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)
२२. महापुरुषों की जीवन–गाथायें (प्र. सं.) १।)
२३. राजयोग (प्र. सं.) १=)
२४. स्वाधीन भारत! जय हो! (प्र. सं.) १=)
२५. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
२६. भारतीय नारी (द्वि. सं.) ॥)
२७. शिक्षा (द्वि. सं.) ॥=)
२८. शिकागो–वक्तृता (ष. सं.) ॥=)
२९. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं) ॥=)
३०. मेरे गुरुदेव (च. सं.) ॥=)

३१. कवितावली ( प्र. सं. ) ॥=)
३२. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ ( द्वि. सं. ) ॥=)
३३. शक्तिदायी विचार ( प्र. सं. ) ॥=)
३४. वर्तमान भारत (तृ. सं.) ॥)
३५. मेरा जीवन तथा ध्येय ( द्वि. सं ) ॥)
३६. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ॥=)
३७. मरणोत्तर जीवन ( द्वि सं. ) ॥)
३८. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें ( प्र. सं. ) ॥)
३९. सरल राजयोग ( प्र. सं. ) ॥)
४०. मेरी समर-नीति ( प्र. सं. ) ।≥)
४१. ईशदूत ईसा ( प्र. सं.) ।=)
४२. विवेकानन्दजी से वार्तालाप ( प्र. सं. ) १।=)
४३. विवेकानन्दजी की कथायें ( प्र. सं. ) १।)
४४. श्रीरामकृष्ण-उपदेश ( प्र. सं. ) ॥=)
४५. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी शारदानन्द, ( प्र. सं. ) ।=)

## मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग ( तिसरी आवृत्ति ) ४।
द्वितीय भाग ( दुसरी आवृत्ति ) ४।=
३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत ( पहिली आवृत्ति ) ५॥
४. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा ( दुसरी आवृत्ति ) ॥=
५. कर्मयोग—( पहिली आवृत्ति )—स्वामी विवेकानंद १॥=
६. शिकागो-व्याख्यानें—( दुसरी आवृत्ति )—स्वामी विवेकानंद ॥=
७. माझे गुरुदेव—( दुसरी आवृत्ति )—स्वामी विवेकानंद ॥=
८. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण-( पहिली आवृत्ति ) -स्वामी विवेकानंद ॥८
९. शिक्षण—( पहिली आवृत्ति )—स्वामी विवेकानंद ॥८
१०. पवहारी बाबा—( पहिली आवृत्ति )—स्वामी विवेकानंद ॥
११. साधु नागमहाशय चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)- ( दुसरी आवृत्ति ) २ रु.

**श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, म. प्र.**

मूल्य १ रु.